

इस अंक में



● रंग संवाद का लोकार्पण



● 'लाहौर' के लेखक की खरी-खरी



● बंदिश राग का नक्शा होती है



● नाटक में संगीत को संवादी बनाने का हिमायती हूँ



● हौसलों और उम्मीदों के गीत



रंग संवाद

अप्रैल-जून 2010

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) का
त्रैमासिक संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता, राकेश सेठी

कम्पोजिंग : मुकेश सेन

मुख्य आवरण चित्र : नृत्यांगना चेतना जालान की नई नृत्य रचना
'ई-मो-को' (मैं कौन हूँ) का एक दृश्य।

भीतर के छायाचित्र : सौरभ अग्रवाल, प्रवीण दीक्षित,
घनश्याम शर्मा, निर्मल व्यास, विजय रोहतगी तथा ताज़नूर

संपादकीय संपर्क :

वनमाली स्मृति सृजन पीठ,

22, E-7, अरेरा कॉलोनी,

भोपाल-462016

फ़ोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428 ई-मेल :

vanmalisrijanpeeth@gmail.com

जरूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के
विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए
न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक - पहले पहल प्रिंटर, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स,
भोपाल

कविता और संगीत

मानव सभ्यता के विकास में एक चरण ऐसा भी था जब कविता और संगीत, कविता और नाटक, कविता और कहानी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता था कहानी भी कविता में ही कही जाती थी। एक पूरा का पूरा युग महाकाव्यात्मक चेतना या गाथा का रहा है, जिसमें कहानियां महाकाव्य के रूप में कही गईं। रामायण से लेकर आल्हा-ऊदल तक इस अवधारणा के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं और यह सिर्फ हमारे देश में ही नहीं था। अन्य देशों से भी, जैसे ग्रीक साहित्य से, इसी तरह के उदाहरण दिए जा सकते हैं। यह वह समय था जब मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट था, उसमें बसे संगीत को महसूस कर सकता था, जीवन अधिक सरल और सहज था तथा उसमें मानवीय सभ्यता के बचपन जैसा उत्साह था। इस समय में जीवन समग्र था तथा कविता, संगीत और कहानी एक दूसरे से जुड़े हुए थे। लेकिन आगे चलकर ऐसा नहीं रह सका।



सभ्यता और जीवन में विकास के साथ-साथ कविता और संगीत ने धीरे-धीरे स्वतंत्र माध्यम का स्वरूप ग्रहण करना शुरू किया और औद्योगिक समाज की कलात्मक अभिव्यक्ति के दबाव ने गद्य को भी अपना रास्ता अलग पकड़ने को मजबूर किया। कथा और उपन्यास का उदय, विशेषकर उपन्यास का आगमन, पिछले दो-तीन सौ वर्षों की ही तो बात है। अब जरा संगीत के उद्गम को देखें। ऐसा माना जाता है, और यह सच भी है, कि पूरे ब्रह्मांड और धरती का कार्य-व्यवहार निश्चित आवृत्तियों पर चल रहा है। इन आवृत्तियों में ही धरती का संगीत निहित है। हमारे आसपास सरसराते वृक्ष, चहचहाते पक्षी, विभिन्न आवाजों के सृजन करते पशु तथा मनुष्य की अपनी आवाज इन प्रारंभिक ध्वनियों में हैं, जिनकी निश्चित आवृत्तियां खोजी जा सकती हैं और जिनसे प्रारंभिक ध्वनियों का सृजन हुआ होगा। इन ध्वनियों और मनुष्य के आल्हाद ने मिलकर कविता तथा संगीत की सृष्टि की। ग्रामीण समाज से जुड़े लोक संगीत से लेकर शास्त्रीय संगीत तक की यात्रा भारतीय संगीत ने तय की है। लोक संगीत और लोक कविता तो लोक में रची-बसी है, लेकिन भारतीय शास्त्रीय संगीत की निश्चित श्रृंखला हमें गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से प्राप्त हुई है, जिसमें भी भक्ति संगीत या भक्ति भावना पर आधारित कविता का बड़ा योगदान है। ध्रुपद तो भक्ति संगीत है ही, भारतीय रागों के प्रस्तुतिकरण के विभाजन में भी— जिसमें आलाप, जोड़, खयाल, गत और झाला जैसा क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है— वह सूफियाना दर्शन शामिल है, जिसमें ब्रह्मांड के उद्गम, क्रमिक विकास और अंततः विनाश की परिकल्पना की गई है।

भक्ति संगीत के इस विकास में कविता महत्वपूर्ण थी। कविता और संगीत दोनों ही मनुष्य को ईश्वर से जोड़ने का काम करते थे। पर जैसे-जैसे रागों को मौसम से या कि दिन के विभिन्न प्रहरों से या कि मनुष्य के भीतर बहने वाली अलग-अलग भावनाओं से जोड़ने का प्रयास हुआ उसमें कविता गौण होती गई और ध्वनि या मूड्स का महत्व बढ़ता गया। आज के शास्त्रीय संगीत में कविता सिर्फ आलंबन की तरह प्रयुक्त होती है बाकी सारा कमाल ध्वनियों के सृजन का है। पश्चिमी शास्त्रीय संगीत भी मूलतः प्रार्थना और चर्च के संगीत से निकला हुआ संगीत है, जिसमें औद्योगिकीकरण के साथ-साथ नई तरह की भावनाओं और मूड्स को प्रक्षेपित किया गया।

पुरानी तरह के संगीत में कविता का छंदबद्ध होना आवश्यक था। छंद और संगीत मिलकर एक तरह की मैलोडी की सृष्टि करते थे, जो मनुष्य को आध्यात्मिक शांति प्रदान करते और उसके जीवन को भीतर से संतुलित तथा समृद्ध बनाते थे। औद्योगिकीकरण के बाद और शहरी समाज के विकसित होने के साथ-साथ आधुनिक समय के तनावों के बीच न तो जीवन में इस तरह की मैलोडी रह गई है और न ही वैसी कविता और संगीत। जब पुराने तरह की छंद बद्ध कविता आधुनिक समय के दबावों और विचारों को संप्रेषित करने में असफल होने लगी तब नई कविता ने जन्म लिया। नई कविता में छंद का होना अनिवार्य नहीं है। फिर भी उसमें एक तरह की लय तो होती ही है। इस तरह की कविता को संगीतबद्ध करना कठिन काम है। और यह पुरानी तरह की मैलोडी की सृष्टि भी नहीं करती।

वैसे तो शास्त्रीय संगीत में भी बदलाव आया है। लेकिन जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसका उदाहरण फिल्म संगीत से ज्यादा अच्छी तरह से दिया जा सकता है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक आदर्श प्रेरित नव निर्माण की लहर चली थी, जिसे हम शंकर-जयकिशन के संगीत और उसकी सुरीली ध्वनियों में तथा उसमें प्रयुक्त गीतों में देख सकते हैं। नेहरूवियन युग से मोहभंग को आर.डी. बर्मन द्वारा प्रयुक्त संगीत की बदलती लय में देखा जा सकता है। और आज के समय की गति को ए.आर. रहमान के संगीत में दृष्टिगत किया जा सकता है, जहां कविता कई बार अनुपस्थित सी दिखती है।

आज की कविता का संगीत से मेल कराना है तो हमें उसकी अंतर्लय को पहचानना पड़ेगा जो कविता की अर्थवत्ता में विस्तार करता हो, न कि उसे छुपाता हो। जीवन की जटिलता ने कविता तथा संगीत दोनों को बदला है लेकिन वे एक दूरस्थ क्षितिज पर जाकर ज़रूर मिलते हैं। हमें उस क्षितिज की खोज करना होगी। वनमाली सृजन पीठ में 'कविता यात्रा' के निर्माण द्वारा, भजनों, होलियों और लोक संगीत में शास्त्रीयता की खोज द्वारा तथा आधुनिक कवियों को संगीत बद्ध करने के प्रयत्न से हम इस क्षितिज की तलाश करते रहे हैं। सभी सुधी पाठकों और कलाकारों से आग्रह है कि वे इस प्रयत्न में भागीदार बनें।

रंग संवाद को पाठकों ने बहुत पसंद किया है जिसकी एक बानगी हमें प्राप्त पत्रों से मिलती है। इस अंक पर भी आपकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

शुभकामनाओं सहित,

—संतोष चौबे

प्रौद्योगिकी में आये परिवर्तनों और संचार की नई प्रविधियों के साथ लगता है कि प्रदर्शनकारी कलाओं की भाषा में कई तरह के बदलाव आये हैं। इस बदलाव ने रंग भाषा को कई स्तर पर बदल दिया है या बदलने की बाध्यता पैदा कर दी है।



॥एक॥

आज के नाटक के लिये एक नई रंग भाषा को आविष्कृत करने की जरूरत है। नई रंग भाषा को हड़बड़ी में संभव नहीं किया जा सकता। दिक्कत यह है कि रंगकर्मियों और नाटक लेखकों के बीच ऐसा कोई संवाद पूरे दृश्य में मौजूद नहीं है, जिससे इस नई आवश्यकता को समझना संभव हो सके। नई रंग भाषा किस किस की चीजों के समायोजन और किस किस की प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिरोध से संभव हो सकेगी इस पर विचार की कोई पहल ही दिखाई नहीं देती। एक कसमसाहट सी तो दोनों जगह दिखाई पड़ती है लेकिन एक गंभीर विचार विमर्श दृश्य से नदारद है। इसलिए या तो हड़बड़ी में कुछ सामान्यीकरण कर लिये जाते हैं या नाटक लेखक रंगकर्मियों पर और रंगकर्मी नाटक लेखक पर दोषारोपण करके पल्ला

क्या बदल रही है नाटक की भाषा ?

कुछ असम्बद्ध-सी टिप्पणियाँ

● राजेश जोशी

झाड़ लेते हैं। समस्या जहाँ की तहाँ बनी रहती है। दर्शक के चारों ओर अंधेरे का जो एक झीना सा ही सही पर जरूरी घेरा था, जो सिनेमा के स्क्रीन और दर्शक के बीच या नाटक के मंच और दर्शक के बीच एकाग्रता को सघन बना देता था, जो उसे उसके आसपास से अलग कर देता था, टेलीविजन ने उसे खत्म कर दिया है। दर्शक में एक अजीब सी कैजुअलनेस या कामचलाऊपन बढ़ा है। देखने की एकाग्रता खत्म हो गयी है, या खत्म हो रही है। टेलीविजन के दर्शक के आसपास पूरी रोशनी है। उसमें चीजों की और लोगों की उपस्थिति बनी रहती है। आसपास घटित होता कार्यव्यापार भी चलता रहता है। इसने हमारे देखने के पूरे व्यवहार को ही बदल दिया है। अब वह अंधेरे के घेरे में एक असुविधा महसूस करता है। उससे बार-बार कहना पड़ता है कि नाटक के दौरान वह अपना मोबाइल बंद रखें। पिछले दिनों एक नाटक के दौरान मैंने जब अपने बगल में बैठे एक दर्शक से मोबाइल बंद करने को कहा तो उसने उसकी घंटी को तो बंद कर दिया पर मोबाइल के डायल पर लगातार एक हरी पीली रोशनी मेरी आँखों को तंग करती रही। मुझे तब और भी अधिक ताज्जुब हुआ जब मैंने जाना कि वह अमेच्योर थिएटर का एक युवा कलाकार था।

॥दो॥

पिछले दिनों अभिनेताओं, खासतौर से उन अभिनेताओं में जो टेलीविजन पर भी काम करते हैं और शौकिया रंगकर्मी भी हैं, के बारे में रंग निर्देशक बंसी कौल ने एक दिलचस्प बात कही थी। टेलीविजन के छोटे पर्दे पर दिखाये जाने वाले सीरियल्स में अधिकांश समय क्योंकि अभिनेता का चेहरा या धड़ ही दिखाई देता है, इसलिए जब वह वापस रंगमंच पर आता है तो आंगिक भाषा का व्यवहार करने और रंग गतियों से गुजरने में उसे असुविधा होने लगती है। वह लगभग स्टिक हो जाता है या होने लगता है। उसकी देहभाषा में लोच की कमी आने लगती है। इसलिए नाटक एक किस्म से स्पोकन ड्रामा में बदल रहा है। संवादोन्मुखता बढ़ रही है। लेकिन इस

आत्यन्तिकता का दूसरा छोर भी है, जहाँ रंगकर्मी नाटक को मात्र एक तीव्र गतियों वाली गतिविधि में, देह भाषा के संयोजनों में, कम्पोजिशन में याने लगभग एक झाँकी में अवमूल्यित कर देते हैं कि किसी नाट्यालेख की आवश्यकता ही खत्म हो जाती है। वह एक अनुष्ठान की प्रस्तुति बन कर रह जाता है। ऐसे नाटक पिछले दशकों में कई महत्वपूर्ण युवा निर्देशकों ने किये हैं। ब्रेख्त ने कहीं लिखा है कि चाहे यह माना जाता हो कि थिएटर की शुरुआत अनुष्ठान से ही हुई है लेकिन थिएटर तभी थिएटर बनता है जब वह अनुष्ठान से अलग होता है। रंग भाषा के सामने यह एक दूसरी दिक्कत इस दौर में आयी है। उसमें शब्द बहुलता बढ़ रही है और आंगिक भाषा और गतियाँ सीमित हो रही हैं। मतलब यह कि शब्द और आंगिक भाषा का संतुलन गड़बड़ा गया है। आंगिक भाषा जो नाटक की स्वायत्तता की भाषा थी उसका सीमित होना नाटक की अपनी स्वायत्तता को भी सीमित कर रहा है। पिछले दिनों एक सेमीनार में कमलेश दत्त त्रिपाठी ने इस ओर इशारा किया था कि रिप्रेजेंटेशनल थिएटर प्रजेन्टेशनल थिएटर में बदल रहा है।

॥तीन॥

हिन्दी रंगमंच में अनेक निर्देशक पूरी तरह से प्रोफेशनल हैं। उनके पास नाटक का तकनीकी ज्ञान है। वे बकायदा नाट्य विद्यालय द्वारा प्रशिक्षित हैं। जबकि नाटककार की स्थिति इससे एकदम उलट है। ज्यादातर नाटक लेखकों के पास नाटक लेखन का किसी किस्म का तकनीकी ज्ञान नहीं है। इसे जानने के



नाटकों की कमी का एक रोना सर्वत्र सुनाई देता रहता है। इस स्यापे का वास्तविकता से कोई लेना देना नहीं है।

लिखा था कि रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिये रंगमंच हो जो व्यवहारिक है। इसकी प्रतिक्रिया में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अशक, राजकुमार वर्मा आदि नाटककार आते हैं जो रंगमंच के साथ संवाद और हस्तक्षेप का रिश्ता बनाने के बजाय उसके अनुरूप नाट्यालेख तैयार करने लगते हैं। यह स्थिति न तो नाट्यालेख को विकसित करती है न रंगमंच का विकास होता है। मोहन राकेश और ओम शिवपुरी के नाट्य ग्रुप में जब एक संवाद की स्थिति बनती है तो नाटक में बदलाव आता है। हिन्दी में नाटककार और रंगकर्मीयों के बीच संवाद की स्थिति बीच बीच में

बनती है। साथ काम करने के कई उदाहरण भी मिल जाते हैं लेकिन कभी निर्देशक के अपने अहं और कभी लेखक के अहं में यह संवाद टूट जाता है। मुझे कई बार लगता है कि निर्देशक का ज्यादा जोर और ज्यादा ध्यान नाटक के प्रदर्शन पर होता है और लेखक का ज्यादा ध्यान या ज्यादा जोर नाटक में व्यक्त विचार पर होता है। निर्देशक का पाठ और अभिनेता का पाठ कई बार अपने नाट्यकर्म के कारण और कई बार व्यक्त विचार के प्रति लापरवाही के कारण लेखक के इन्टरप्रिटेन्स को बदल देता है। लेखक के लिये यह स्थिति पीड़ादायक होती है। तकनीक पर जोर विचार और विश्लेषण के प्रति बहुत बार लापरवाह बनाता है। तकनीक को जानना और उसे उपयोग करने में प्रशिक्षित होना निर्देशक को नाट्यालेख और उसमें आये विचार इन्टरप्रिटेन्स के प्रति अहमन्य बना देता है। इस तरह के टकराव के चलते अक्सर नये नाट्यालेखों के प्रति अच्छे नाट्य समूहों और निर्देशकों में एक नकारात्मक रवैया दिखाई देता है। बहुत सारे नाटक जो रंगकर्मीयों और नाटककारों के बीच संवाद से बेहतर बनाये जा सकते थे, नहीं बनाये जा पाते और उनका मंचन भी नहीं होता। नाटकों की कमी का एक रोना सर्वत्र सुनाई देता रहता है। इस स्यापे का वास्तविकता से कोई लेना देना नहीं है।

॥चार॥

बीच में एक स्थिति और दिखाई दी थी जिसमें भानु भारती, मोहन महर्षि, एम.के. रैना, प्रसन्ना आदि ने स्वयं ही नाट्यालेखों को तैयार किया था। इसमें कुछ नाट्यालेख ऐसे थे जो किसी न किसी नाटककार के साथ मिल कर तैयार किये गये थे। ऐसे आलेखों की प्रस्तुति और प्रकाशन के बाद कई तरह के विवाद भी सुनाई पड़े। ये आलेख अपनी प्रस्तुति में चाहे सफल रहे हों पर क्या नाट्यालेख के स्तर पर भी वे सफल नाट्यालेख कहे जा सकते हैं? अगर ऐसा होता तो उन आलेखों की दूसरे निर्देशकों और रंगसमूहों द्वारा भी प्रस्तुतियों की जानी चाहिये थीं या उन्हें नाट्य लेखन का एक मॉडल बनना चाहिये था। पर ऐसा हुआ नहीं। हबीब तनवीर इसके अपवाद हो सकते हैं। वे निर्देशक से अलग एक लेखक भी थे। इसलिए तकनीकी ज्ञान भर से एक मॉडल या महत्वपूर्ण नाट्यालेख तैयार नहीं किया जा सकता। प्रसाद ने अच्छे नाटक को शरीर में मस्तिष्क का स्थान दिये जाने की बात कही थी। ऐसा एक रिश्ता रंगकर्म और नाटक लेखन के बीच बनना चाहिये। हालांकि चाहिये तो बहुत कुछ पर हिन्दी में नाटक की स्थिति में स्पीड ब्रेकर बहुत हैं। एक समाज या जाति में नाटक की स्थिति इस बात को भी इंगित करती है कि वह आंतरिक रूप से अपने व्यवहार और विचार में कितना जनतांत्रिक हुआ है।

॥पाँच॥

बंसी कौल के साथ एक लम्बे असें से काम करते हुए मुझे लगता है कि एक रंग निर्देशक के साथ जब आपकी पटरी कुछ ठीक ठाक सी बैठ जाती है तो वह विचार को विजुअल में रूपान्तरित करने में आपकी मदद करता है और लेखक निर्देशक के विजुअल को एक विचार के रूप में इन्टरप्रेट करने में उसकी सहायता करता है। अगर रंगमंच एक ताली है तो वह दो हाथों से ही बजेगी। एक हाथ निर्देशक का और एक नाटककार का। ●



नये नाट्य रूपों की तलाश

सफदर हाशमी का नाम हिन्दुस्तान में नुक्कड़ नाटक का पर्याय रहा है। लेकिन सफदर सिर्फ एक रंगकर्मी ही नहीं थे, उन्होंने बच्चों के लिए कविताएं और नाटक लिखे, पोस्टर डिजाइन किए, और टीवी फिल्मों की स्क्रिप्ट लिखी और उनका निर्देशन किया। सफदर के संस्कृति और रंगमंच पर लेख दैनिक समाचार पत्रों और स्टूडेंट्स फेडरेशन ऑफ इंडिया की पत्रिका स्टूडेंट्स स्ट्रगल में छपे। सफदर शायद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने नुक्कड़ नाटक के सैद्धांतिक मूल को व्याख्यायित करने की कोशिश की। कौन सी ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियां हैं जिनमें नुक्कड़ नाटक जन्म लेता है? नुक्कड़ नाटक का लोक नाट्य से क्या संबंध है? नुक्कड़ नाटक की विकास यात्रा क्या रही है? क्या ये केवल आंदोलनात्मक प्रचार है? क्या नुक्कड़ नाटक में जीवन के 'शाश्वत' सवालों को नहीं उठाया जा सकता? आदि अनेक प्रश्नों पर सफदर ने अपने विचार व्यक्त किए। सफदर ने अपनी नुक्कड़ नाटक की अवधारणा को नुक्कड़ नाटक के इतिहास और जन नाट्य मंच के दस साल के काम के आधार पर व्याख्यायित किया। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के एक सक्रिय कार्यकर्ता सफदर, नुक्कड़ नाटक को विरोध के राजनैतिक नाटक के रूप में देखते थे, जिसका काम जन समुदाय को उद्वेलित करना और उन्हें जुझारू जन संगठनों के पीछे लामबंद करना है। यहां हम सफदर के दो लेख दे रहे हैं। इनमें से पहले लेख में सफदर नुक्कड़ नाटक बनाम प्रोसीनियम नाटक की बहस को फैसलाकुन ढंग से नकारते हैं। और कहते हैं कि हम समझते हैं कि मंच नाटक और नुक्कड़ नाटक में अंतर्विरोध की बात करना बकवास है। जनता से दोनों का एक बराबर संबंध है। लेकिन पूंजीवादी व्यक्तिवादी कलादृष्टि और जनता की सामूहिक कलादृष्टि में सुनिश्चित और समझौताहीन अंतर्विरोध है। दूसरे आलेख में वो पारंपरिक विधाओं के साथ एक द्वंद्वात्मक रिश्ता कायम करने की जरूरत पर बल देते हैं। आज सफदर को एक शहीद के रूप में याद किया जाता है। ३४ साल की अल्पायु में उन्होंने जो लेख लिखे उनका वास्तविक मूल्यांकन अभी शेष है।

एक नामी गिरानी युवा मराठी नाटककार ने नुक्कड़ नाटक में पटकथा लेखन की समस्याओं पर विचार विमर्श की शुरुआत करते हुए हाल ही में यह वक्तव्य दिया था कि 'नुक्कड़ नाटक अपने दर्शकों पर स्थाई प्रभाव छोड़ने या गंभीर क्षोभ उत्पन्न करने में असमर्थ है क्योंकि वह मंच नाटकों की तरह मृत्यु और प्रेम जैसी जीवन की मूलभूत समस्याएं नहीं उठा सकता।' उन्होंने अपने उन श्रोताओं से हमी भी भरवाई जिनमें, दिलचस्प बात यह है कि, ज्यादातर लोग भारत के अनेक हिस्सों से आए हुए सक्रिय नुक्कड़ रंगकर्मी थे।

हममें से जो लोग नुक्कड़ नाटक में हैं, उन्हें केवल मंच नाटक के हिमायतियों की ओर से नहीं, खुद अपने सहकर्मियों की ओर से भी रोज-रोज ऐसी टिप्पणियां सुनने का अनुभव है। मुझे लगता है कि हम लोग काफ़ी अरसे से इन टिप्पणियों को अगंभीर मानकर खारिज करते आए हैं। हम या तो उन्हें व्यावसायिक ईर्ष्या मानकर खारिज कर देते हैं या मन ही मन स्वीकार कर लेते हैं कि बात तो

सही है और फिर अपने नुक्कड़ नाटक की तात्कालिक शक्ति, जीवंतता और राजनीतिक प्रभावकारिता के पक्ष में दलील शुरू कर देते हैं। मैं सोचता हूँ कि अगर हम खुद अपने रंगकर्म के बारे में अपनी समझ साफ करना चाहते हैं तो इस तरह की टिप्पणियों का ऐतिहासिक और दार्शनिक आधार समझना जरूरी है।

एक स्तर पर ऐसी टिप्पणियां स्वयं उत्पादन के साधनों को, और इस प्रसंग में कलात्मक अभिव्यक्ति के साधनों को रहस्यमय शक्ति से मंडित कर देने वाले पुरातन भ्रम की ही उपज है। मंच नाटक को यहां दैवी प्रेरणा के क्षेत्र में, सृजनात्मकता के क्षेत्र में और उन साधनों के क्षेत्र में पहुंचा देने वाले मोहक इंद्रधनुष की तरह देखा जा रहा है जहां मनुष्य का, प्रेम और मृत्यु का गहन विश्लेषण करने वाला नाटक जन्म लेता है। गोया कि मंच नाटक बोधिवृक्ष है, गौतम जिसके तले बैठकर बुद्ध बन जाते हैं। निस्संदेह, यह कोरी बकवास है। गाय महज इसलिए बच्चा नहीं जनती कि वह मादा है। मंच भी आखिर खाली जगह भर है। प्रकाश तो प्रकाश ही है, रूपसज्जा तो

रूपसज्जा ही है और वेशभूषा तो वेशभूषा ही है। इस खाली जगह को सजीव करने वाली चीज, कौन सी है? न वह मंच का प्रकाश है, न वेशभूषा है, न कलाकारों की रूपसज्जा है। वह चीज है जीवन के अंतर्विरोधों और जटिलताओं के बारे में (और जैसी आपकी ख्वाहिश है, मृत्यु और प्रेम के बारे में) नाटककार की पैनी समझ



यह भी सच है कि मंच की एक विधा से जो खास किस्म की तीव्रता और एकाग्रता प्रभाव अर्जित किया जा सकता है, वह दूसरी विधा में संभव न हो। लेकिन एक खास विधा के बाहर किसी प्रकार के विश्लेषण की गहराई और प्रस्तुति के सौंदर्य और शक्ति की उपलब्धि को असंभव घोषित करने का एक अर्थ है, अभिव्यक्ति के विविध रास्ते तलाशने वाली मानव सृजनात्मकता की असीमित क्षमताओं को अस्वीकार करना, और दूसरा अर्थ है एक तरह के मंचीय अनुभव को नरिपेक्ष रूप में सबसे श्रेष्ठ और सबसे परिष्कृत मान लेना।

जिसका गहरा संबंध जीवंत रचनात्मक कल्पना से है। उसके बाद है डाइरेक्टर और डिजाइनर और लाइटमैन की विशेष योग्यता और शैली तथा कलाकारों की प्रतिभा और ऊर्जस्विता। वह खाली जगह इन क्षमताओं को नहीं पैदा करती। बल्कि ये क्षमताएं मंच को सौंदर्य, ऊर्जा, विचार, ड्रामा-वस्तुतः जिंदगी-से भर देती हैं। शक्ति और सौंदर्य के साथ किसी भी खाली जगह पर नाटक उत्पन्न हो जाता है, वह जगह चौकोर, तिकोनी या गोल, जैसी भी हो। दर्शक चाहे अभिनेताओं के एक तरफ हों या चारों तरफ, अंधेरे में हों या रोशनी में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि एक विधा के समर्थक क्या विश्वास करना चाहते हैं। मनुष्य अब तक के जिस विशालतम मंच कार्य से परिचित है, उस प्राचीन यूनानी नाटक की प्रस्तुति खुले आकाश के नीचे और चारों ओर पहाड़ियों से घिरे रंगमंच पर एक

साथ पंद्रह हजार दर्शकों के आगे होती थी जो वास्तव में अभिनय क्षेत्र के तीन तरफ बैठते थे। अपने आसपास देखें तो भारत के सबसे सजीव रंगमंचों में से ज्यादातर को खेतों, मैदानों में या खुले मंचों पर प्रस्तुत करने की प्रथा है।

सच यह है कि अभिनय स्थल, दर्शकों की स्थिति और तरह तरह के नाटकीय उपकरणों और औजारों का वैशिष्ट्य नाटक के अंतिम रूप और प्रकृति का उतना ही निर्धारण करता है, जितना वह उनसे निर्धारित होता है। यह भी सच है कि मंच की एक विधा से जो खास किस्म की तीव्रता और एकाग्रता और प्रभाव अर्जित किया जा सकता है, वह दूसरी विधा में संभव न हो। लेकिन एक खास विधा के

बाहर किसी प्रकार के विश्लेषण की गहराई और प्रस्तुति के सौंदर्य और शक्ति की उपलब्धि को असंभव घोषित करने का एक अर्थ है, अभिव्यक्ति के विविध रास्ते तलाशने वाली मानव सृजनात्मकता की असीमित क्षमताओं को अस्वीकार करना, और दूसरा अर्थ है एक तरह के मंचीय अनुभव को नरिपेक्ष रूप में सबसे श्रेष्ठ और सबसे परिष्कृत मान लेना। अपनी अभिव्यक्ति के माध्यमों में फँसा हुआ कलाकार ही उनकी चरम अपरिहार्यता का दावा करता है। हमें

इस बारे में बहुत साफ होना चाहिए। रंगमंच कभी भी रंगमंच के श्रृंगार और सजावट पर निर्भर नहीं हो सकता। अपने आसपास की जिंदगी की रचनात्मक और गतिमान समझ से ही नाटककार के औजारों और युक्तियों का आविर्भाव होता है; न कि इसका उल्टा। विशेष किस्म के नाटक की ऐतिहासिक आवश्यकता ने मंच नाटक को जन्म दिया है। जैसे जैसे आवश्यकता का विकास हुआ, और उसमें जटिलताएं आईं, मंच नाटक ने भी उसका अनुसरण किया। एकदम भिन्न और अधिक प्रभावशाली ऐतिहासिक दबाव आने पर नाटककार मंच नाटक की जगह उससे भी आगे जा सकता है। फिर भी, किसी कलाकार के लिए संभव है कि वह खुद अर्जित किए हुए या विरासत में पाए हुए अनुशासन के भीतर ही रचनात्मक तरीके से काम कर सके। इस पर हम अधूरा, वस्तुतः अमान्य, करार देना

विश्वसात्मक प्रवृत्ति सबसे ज्यादा उन कलाकारों में पाई जाती है जो अपने अतीत से जकड़े हुए हैं और इसीलिए कलाओं में उलटफेर और रूपांतरण की, कलात्मक अभिव्यक्ति के नए रूपों के निरंतर आविर्भाव की ऐतिहासिक अपरिहार्यता स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरी तरफ, इतिहास बोध से सम्पन्न जिस कलाकार के सृजन का आवेग सामाजिक क्रांति से जुड़ी भविष्य की प्रतिज्ञाओं से कुंठित या बाधित न होकर प्रेरित होता है, वह खुद को परिस्थिति के अनुरूप ढालता है और अगर उसका अपना माध्यम निष्प्राण और जड़ हो जाता है तो वह उस माध्यम की सीमाओं के बाहर जाकर अधिकाधिक सृजन शुरू करता है।

रंगमंच में बाहरी उपकरणों के प्रति अंधभक्ति का दूसरा धरातल मंच नाटक के अपने विकास के इतिहास से ही उभरा है। जिस रूप में मंच नाटक का विकास हुआ है, उसमें वह जीवन के परिष्कृत और जटिल पहलुओं पर चिंतन का, मनन, प्रतिबिंबन और आत्मनिरीक्षण का माध्यम बन गया है। सभागार के, मौन के, और अंधकार के वातावरण से वह भावना और भी दृढ़ हो जाती है, बहरहाल समूह के, समुदाय के परे जाकर पूंजीवादी कलाकार कला के वैयक्तिक आस्वादन के लिए इन सब बातों का इस्तेमाल करता है। उसने इसे एक ऐसा मंच बना दिया है जहां बहुत से व्यक्तियों का एकाग्र चित्त आकृष्ट किया जा सके। अलग अलग व्यक्तियों से कला के घात प्रतिघात की यह अवधारणा खुद एक पूंजीवादी मांग है और व्यक्तिगत उद्यम वाले दर्शन पर आधारित चिंतन व्यवस्था की उपज है। उपन्यास और कहानी के उदय के साथ मंच नाटक के आगमन का दिलचस्प संबंध है। इस सीमा तक कि आज हम बिना किसी शक शुभहा के यह मान बैठे हैं कि सारा गंभीर साहित्य लिखित साहित्य ही होगा जिसका आनंद व्यक्तिगत स्तर पर लिया जाएगा। जिन सामूहिक कलाओं का सामुदायिक स्तर पर सामूहिक ढंग से रची गई कलाओं का अनुभव किया जा चुका है, वे पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के प्रसार के साथ लुप्त हो गई हैं। साथ ही साथ, वंचित जनसमुदाय के व्यापक हिस्से वर्ग समाजों का उन्मूलन करने के लिए जैसे जैसे संघर्ष के विभिन्न रूप अपना रहे हैं, और पूंजीवादी

भूस्वामी राज्य के अंदरूनी संकट जैसे जैसे तेज हो रहे हैं, वैसे वैसे नुककड़ नाटक जैसे रूप देशभर में प्रकट हो रहे हैं। उनके आविर्भाव को वैयक्तिक विश्वदृष्टि पर सामूहिक विश्वदृष्टि की क्रांतिकारी विजय के रूप में देखा जाना चाहिए। अपनी विश्वदृष्टि की जड़ खोदी जाते देखकर, या कहिए कि उसे खदेड़ा जाता देखकर पूंजीवादी कलाकार उस माध्यम की चरम साध्यता का व्याकुल आग्रह करने लगता है, जिसकी परिधि में रहकर वह काम करता है। सामुदायिक रंगमंच की ओजस्वी शक्ति के प्रति उसकी घबराहट रोग का एक लक्षण है। इसलिए हमें अपने रंगमंच का दीनभाव से पक्ष समर्थन करने की जरूरत नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम विजय अभियान पर हैं। हमें अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनी है।

बहरहाल, कहीं से भी ऐसी भनक देने की हमारी मंशा नहीं है कि मंच नाटक का स्थानापन्न खोजने की आसन्न ऐतिहासिक मांग कभी की उठ चुकी थी और इसी से उसकी जगह आज का नुककड़ नाटक उत्पन्न हुआ है। हरगिज नहीं। हम जो कुछ कह रहे हैं, वास्तव में यह है कि वर्तमान नुककड़ नाटक रंगमंच की पूंजीवादी अवधारणा के विरुद्ध, पूंजीवाद द्वारा मंच नाटक को हथिया लिए जाने के विरुद्ध, पूंजीवाद द्वारा मंच नाटक को हथिया लिए जाने के विरुद्ध, प्रतिरोध की एक अभिव्यक्ति है। हम समझते हैं कि मंच नाटक और नुककड़ नाटक में अंतर्विरोध की बात करना बकवास है। जनता से दोनों का एक बराबर संबंध है। लेकिन पूंजीवादी व्यक्तिवादी कलादृष्टि और जनता की सामूहिक कलादृष्टि में सुनिश्चित और समझौताहीन अंतर्विरोध है।

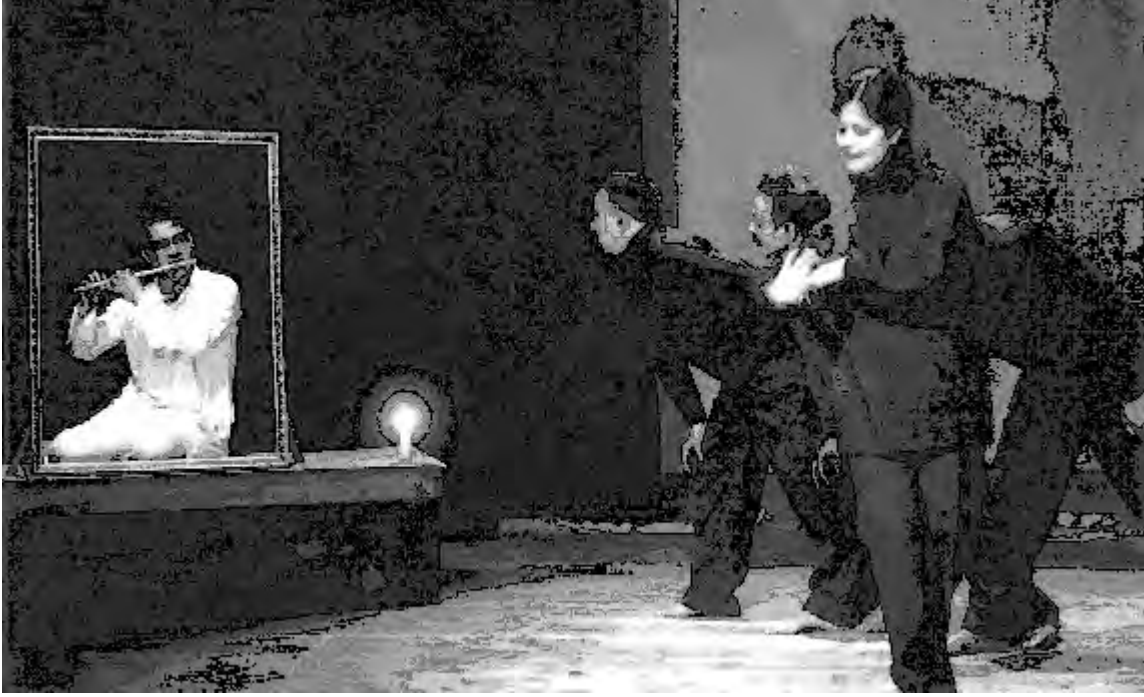
पारंपरिक रूपों और डिवाइसिज का सवाल

लोक, आदिवासी और शास्त्रीय नाट्य और नृत्य रूपों, शैलियों और विधाओं वगैरह को लेकर हिन्दुस्तानी थियेटर करने वालों के बीच आज बहस का होना जितना स्वाभाविक है, उतना ही जरूरी भी है। पिछले 15-20 साल में दूसरे कई इलाकों की तरह हिन्दी बोलने वाले इलाके में भी इन नाट्य रूपों और शैलियों वगैरह का लगातार ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल होता रहा है। कितने ही अहम

निर्देशकों ने पारंपरिक नाट्य शैलियों में नाटक खेले हैं। यहां तक कि आज हालत यह हो गई है कि बहुत से लोग ढोल मंजीरे, नाच गाने और तलवार मुखौटे के बगैर नाटक को नामुकम्मल मानने लगे हैं। हालांकि हिन्दुस्तानी नाटककारों में अभी यह प्रवृत्ति

पारंपरिक नाट्य रूपों के इस्तेमाल के सवाल के साथ बहुत से दीगर सवाल भी जुड़े हुए हैं। मसलन-आधुनिक शहरी रंगकर्मियों और पारंपरिक नाट्य-नृत्य रूपों के संबंधों का आधार क्या होगा? मसलन, वर्तमान हिन्दुस्तानी थियेटर कौन से सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा है, उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या है?





इतनी वाजे नहीं हुई है लेकिन फिर भी दूसरी जबानों से अनुवादित ऐसे नाटक, जो पारंपरिक शैलियों से प्रभावित हैं, काफी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं और बाकायदगी से खेले भी जाते हैं। इस क्षेत्र में हबीब तनवीर, ब. ब. कारंत, शांता गांधी, एम.के. रैना, बंसी कौल और राजेन्द्रनाथ वगैरह के काम ने एक माहौल पैदा किया है। इन हालात में इस विषय पर बहस होना स्वाभाविक है।

फिर इस सवाल पर बहस करना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि अच्छे बड़े पैमाने पर इस दिशा में काम होने के बावजूद अभी कोई सिलसिलेवार और बुनियादी बहस शुरू नहीं हुई। जिन निर्देशकों का मैंने जिक्र किया इनके अंदाज एक दूसरे से मुख्तलिफ हैं। इन लोगों के काम को देखकर यह बात जाहिर हो जाती है कि समाज, कला और परंपरा की तरफ इन लोगों के रवैए भी एक दूसरे से बहुत मुख्तलिफ हैं। मुख्तलिफ शैलियों और पारंपरिक कलाओं के अलग अलग पहलुओं पर इन लोगों की पकड़ भी अलग अलग स्तर की है। हबीब तनवीर पारंपरिक शैली के बिल्कुल अंदर दाखिल होकर उसका सामना वर्तमान द्रष्टों से करवाते हैं, जबकि राजेन्द्रनाथ और शांता गांधी परंपरा से कुछ decorative elements लेकर spectacle पैदा करते हैं। अलग अलग निर्देशक परंपरा से अलग अलग तरह के रिश्ते कायम करते हैं। लेकिन इन इखतलाफात, इन भिन्नताओं की बुनियाद क्या है- इस पर खुलकर और संगठित रूप में बहस अभी शुरू नहीं हुई है।

जब नाटक ने विकासों की लय में गूजना शुरू किया, तब शैली की मूलधारा के सवाल को लेकर भी नए सिरे से सोचने का काम होने लगा। भारतीय यथार्थ को प्रतिबिंबित करने, उसकी बेहतर अभिव्यक्ति करने की जरूरत ने वैस्टर्न प्रभाव से छुटकारा पाने, उसको नामंजूर करने के सिलसिले की शुरुआत की। एक साथ कई जगह नए रूपों, नई शैलियों, नई विधाओं, नई भाषा वगैरह की तलाश सरगर्मी से होने लगी।

इस सवाल पर बहस करना एक और वजह से भी जरूरी है। पारंपरिक नाट्य रूपों के इस्तेमाल के सवाल के साथ बहुत से दीगर सवाल भी जुड़े हुए हैं। मसलन-आधुनिक शहरी रंगकर्मियों और पारंपरिक नाट्य-नृत्य रूपों के संबंधों का आधार क्या होगा? मसलन, वर्तमान हिन्दुस्तानी थियेटर कौन से सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा है, उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या है? आज के हिन्दुस्तानी थियेटर की जड़ें कहां हैं, उसका निजी व्यक्तित्व कैसे विकसित होगा? और भी कई सवाल इस बहस से जुड़े हुए हैं- मसलन हिन्दुस्तानी इतिहास, हिन्दुस्तानी समाज के विकास की हम क्या समझ रखते हैं? मौजूदा निजाम की तरफ हमारा क्या रवैया है? हमने अपनी क्या भूमिका तय की है, हमारी राजनैतिक दिशा क्या है? वगैरह, वगैरह।

मेरे खयाल में जब तक इन तमाम सवालात पर लगातार बातचीत, बहस-ओ-मुबाहिसे का सिलसिला शुरू नहीं होगा तब तक हिन्दुस्तानी थियेटर और पारंपरिक नाट्यरूपों के रिश्ते गोलमोल रहेंगे।

मोटे तौर पर छठे दशक की शुरुआत से हिन्दुस्तानी थियेटर में एक बड़े बदलाव की लहर उठनी शुरू हुई। पांचवें दशक के आखिर तक का भारतीय रंगमंच मूलतः यूरोपियन थियेटर की परंपराओं, उसके व्याकरण, उसके गठन, अनुशासन वगैरह से मतास्सिर था। नेचुरलिस्ट थियेटर, रियलिस्ट थियेटर, थियेटर ऑफ दी ऐब्जर्ड, क्लासिकल वैस्टर्न थियेटर, प्राचीन ग्रीक थियेटर, शेक्सपीयरियन थियेटर, अमेरिकन ग्रुप थियेटर आंदोलन-इन तमाम

धाराओं ने भारतीय थियेटर को प्रभावित किया था। आजादी के आंदोलन के दौरान रंगकर्मियों ने कुछ हद तक वैस्टर्न थियेटर की रैडिकल स्ट्रीम, थियेटर ऑफ प्रोटेस्ट और रूसी एवं सोवियत थियेटर वगैरह से प्रेरित होकर आजादी के आंदोलन में अपना योगदान भी दिया था। इन तमाम असरात ने नाटक लिखने और खेलने की शैलियों पर एक गहरी छाप छोड़ी थी। यूं तो चौथे दशक में इप्ता की रहनुमाई में हिन्दुस्तान के कई कोनों में पारंपरिक नाट्यरूपों के साथ व्यापक तौर पर प्रयोग भी किए गए थे, लेकिन जहां तक मुझे मालूम है इस पूरे दौर में वैस्टर्न प्रभाव से जन्मित नाट्य शैलियां ही हिन्दुस्तानी नाट्यकर्म की मूल धारा के रूप में छाई रही थीं।

आजादी के बाद के दिनों में समाज के बढ़ते हुए संकट ने धीरे धीरे पूरे मुल्क को हिलाना शुरू कर दिया। पांच साला मंसूबों की नाकामयाबी, बढ़ती हुई भुखमरी और बदहाली, जहर की तरह फैलती बदअमनी और बेरोजगारी, गांवों की आबादी का तेजी से गरीबी की गिरफ्त में आना, भ्रष्टाचार का फैलना और जंगे आजादी के तमाम ख्वाबों के टूटने के साथ साथ उस दौर के आदर्शों का लुप्त होना - इन तमाम चीजों ने मुल्क के पूरे ढांचे को हिलाना शुरू कर दिया। कुंठा, नाउम्मीदी, पलायनवाद शहरी बुद्धिजीवियों और कलाकारों में जड़ पकड़ने लगे। लेकिन इसके बरखिलाफ इसी दौर में राजनैतिक स्तर पर जन आंदोलन भी मजबूत होने लगे। किसानों, मजदूरों, नौजवानों और विद्यार्थियों की तहरीकें भी बढ़ने लगीं। कुदरती तौर पर यह तमाम रुझान रचनात्मक गतिविधियों पर भी असर अंदाज हुए। जब नाटक ने इन विकासों की लय में गूँजना शुरू किया, तब शैली की मूलधारा के सवाल को लेकर भी नए सिरे से सोचने का काम होने लगा। भारतीय यथार्थ को प्रतिबिंबित करने,

उसकी बेहतर अभिव्यक्ति करने की जरूरत ने वैस्टर्न प्रभाव से छुटकारा पाने, उसको नामंजूर करने के सिलसिले की शुरुआत की। एक साथ कई जगह नए रूपों, नई शैलियों, नई विधाओं, नई भाषा वगैरह की तलाश सरगर्मी से होने लगी।

छठे दशक के बीच का यह दौर समाज के हर क्षेत्र में नए प्रयोगों का दौर था। राजनैतिक स्तर पर गैर-कांग्रेसी पार्टियों के गठबंधन सामे आ रहे थे। 1957-59 में पहली कम्युनिस्ट राज्य सरकार बन चुकी थी। बंगाल और केरल में कांग्रेस के एकछत्र राज का युग बीत गया लगता था। दूसरे कई प्रांतों में भी गैर-कांग्रेसी मोर्चे सत्ता में आ रहे थे। समाजवादी दल तकसीम हो चुका था और मुख्तलिफ पार्टियों के साथ नए रिश्ते कायम कर रहा था। व्यापक जन असंतोष, आंदोलनों और एजिटेशज की शकल ले रहा था। नए छात्र और मजदूर संगठन पैदा हो रहे थे। औरतों में एक नई जागृति आ रही थी। संयुक्त परिवार का ढांचा टूट रहा था और न्यूक्लियर फैमिली का कॉन्सेप्ट लोकप्रिय हो रहा था। ठीक इसी दौर में नाट्य जगत में भी एक तरह का विप्लव आ रहा था। बड़े पैमाने पर नई शैलियों, नए कथ्य की तलाश शुरू हो चुकी थी। यथार्थ को समझने की कोशिश में रंगकर्मी नई दिशाओं में, खासकर भारतीय परंपरा के सागर में खोजबीन कर रहे थे। महाकाव्यों और पौराणिक साहित्य पर आधारित आधुनिक नाटकों की रचना एक अहम धारा की शकल ले रही थी। हबीब तनवीर का काम स्पष्ट रूप से सामने आ रहा था। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में बाकायदगी से पारंपरिक शैलियों में प्रशिक्षण दिया जा रहा था। इस देशव्यापी बदलाव की लहर और नाट्य जगत की छटपटाहट-दोनों का लगभग एक ही साथ उभरना क्या महज एक इत्तेफाक था या इन दोनों में कोई गहरा रिश्ता भी था। इस सवाल पर संजीदगी से सोचने की जरूरत है।



कला के क्षेत्र में किसी विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश में विकसित होने वाले कलारूप, शैलियां आदि कालांतर में परंपरा की शकल ले लेते हैं। वे अपने सांस्कृतिक परिवेश के प्रतीक बन जाते हैं और उस माहौल के लुप्त होने के बावजूद लंबे अर्से तक जिंदा रहते हैं।

मेरी समझ में नए नाट्य रूपों की तलाश एक बहुत ही बुनियादी जरूरत है जो कि हर संवेदनशील रंगकर्मी को गहराई के साथ महसूस होती है। नाट्य जगत को एक नई शैली से जगमग कर देने की चाह भी कलाकार में एक जोरदार छटपटाहट पैदा करती है। नए खयालात के इजहार की कशमकश में कलाकार नए नए रूपों का सृजन करता है उन्हें खोजकर निकालता है। लेकिन कई मरतबा यूं भी होता है कि कथ्य के अभाव में, अपने खालीपन से परेशान होकर कलाकार सिर्फ चकाचौंध करने वाली, चौंका देने वाली शैली का सहारा लेकर ही अपने वजूद, अपनी हस्ती को बनाए रखना चाहता है। शैली का जन्म होता है कलाकार और यथार्थ



के आपसी टकराव, आपसी संघर्ष से, पैदा होने की जद्दोजहद से। लेकिन जब नई शैली को बगैर इस टेंशन, इस संघर्ष, बगैर इस जद्दोजहद के हालि करने की कोशिश की जाती है तो वहीं से कला, कथ्य, कलाकार, परंपरा-सबके विनाश का सिलसिला शुरू हो जाता है। आज अगर कोई पारंपरिक शैली तक इन कारणों से पहुंचता है तो मेरी समझ में वह परंपरा का दुरुपयोग करता है।

असल में कथ्य और रूप दोनों एक दूसरे से इस तरह पैबस्त हैं जैसे आग और उसकी गर्मी या जैसे बिजली और उसकी रफ्तार। एक दूसरे के बिना उनकी कोई हैसियत ही नहीं है। जिस तरह खयालात सिर्फ अल्फाज की शकल में ही नुमायां होते हैं, उसी तरह कथ्य नाट्यरूप की शकल में ही पैदा होता है। जिस नाटककार, निर्देशक, या अभिनेता की जबान जितनी समृद्ध, जितनी विस्तृत, जितनी जरखेज होती है, उसके खयालात उतनी ही गहराई, उतने ही विस्तार से पैदा होते हैं। शब्दों के ऐसे खाने या सांचे बनाकर नहीं रखे जा सकते, जिनमें खयालात को उंडेल दिया जाए। शैलियां कोई लबादे नहीं हैं, जिन्हें अलमारी में से निकालकर कथावस्तु को पहना उड़ाकर सजा संवार दिया जाए। आजकल जो कहीं कहीं यह टेंडेन्सी नजर आती है, यह बहुत गलत है, अवैज्ञानिक है, अकलात्मक है।

लेकिन आजकल इतनी बड़ी संख्या में जो रंगकर्मी पारंपरिक शैलियों में आधुनिक नाटक लिख और खेल रहे हैं, उनके काम को यूं ही डिसमिस नहीं किया जा सकता। यह सारे प्रयोग, यह संयुक्त प्रयास अब एक आंदोलन की शकल ले चुके हैं। जरूरत है रंगकर्म के इस दौर के सवालात को, समस्याओं को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संदर्भ में समझने की।

मुख्य सवाल यह है कि रंगकर्मी की रचनात्मकता का उसके मौजूदा माहौल और उसकी परंपरा से क्या रिश्ता है? यह रिश्ता किस तरह उसकी रचना को प्रभावित करता है, इस रिश्ते को सींचा

जाए, विकसित किया जाए या तोड़ दिया जाए।

कुल मिलाकर यह सवाल है संस्कृति का, परंपरा का। मेरी समझ में संस्कृति एक बहुत ही व्यापक और पेचीदा कॉन्सेप्ट है। समाज के विकास की शक्तियों और उत्पादन-संबंधों के आपसी टकराव से पैदा हुए सारे अनुभव, सारे खयालात, सारे इमेजिज, सारी कृतियों के कुल जोड़ का नाम है संस्कृति। परस्पर विरोधी मान्यताएं, मूल्य, धारणाएं, विश्वास, धर्म, दर्शन, विचारधाराएं-सभी इसके हिस्से हैं। तबकों में बँटे हुए समाज की संस्कृति भी बँटी हुई होती है। हाकिम तबके की संस्कृति समाज की हाकिम या नुमायां संस्कृति होती है। उससे पैदा हुई मान्यताएं, उसके मूल्य, उसके विश्वास, उसकी कॉस्मॉलोजी पूरे समाज पर और हर तबके पर हावी होते

हैं। लेकिन हाकिम संस्कृति ही समाज में पल रही वाहिद या एकमात्र संस्कृति नहीं होती। वर्ग विभाजित समाज में एक और संस्कृति होती है- महकूम तबके की संस्कृति, शासित तबके की संस्कृति। यह काफी हद तक हाकिम संस्कृति के अधीन होने के बावजूद कई वाईटल ऐस्पैक्ट्स में उससे बुनियादी तौर पर मुख्तलिफ होती है।

किसी परंपरा का प्रगतिशील या इंकलाबी होना ही हमारे रचनाकर्म में उसके आने के लिए काफी नहीं है। मेरी नज़र में सिर्फ वही परंपरा हमारी रचना का हिस्सा बनती है जिसे हम पूरी तरह अपना चुके हैं, जिसे हम ऐब्जॉर्व कर चुके हैं, ऐसिमिलेट कर चुके हैं। और इसके बाद भी वह परंपरा जब हमारे कथ्य से टकराती है तो बहुत ही बदली हुई शकल में प्रकट होती है।

इसके अलावा अलग अलग फिरकों, अलग अलग कौमों की अपनी अपनी विशिष्ट संस्कृतियां होती हैं। इन तबकों, फिरकों, कौमों के आपसी संघर्ष से जो मूल धारा जन्म लेती है वह समाज के विकास की अगली कड़ी में हाकिम-ओ-गालिब संस्कृति की शकल इख्तियार करती है। यह संघर्ष लगातार चलता रहता है। यहां अहम सवाल यह है कि इनमें से कौन सी संस्कृति, कौन सी धारा सचेत रूप से कलाकार के रचना जीवन को दिशा देती है। इस संयुक्त संस्कृति के किन तत्वों से वह मुक्त होना चाहता है। किन्हें विकसित करना चाहता



है। और इस संघर्ष में यह संयुक्त कल्चर किस तरह उसके फैसलों को प्रभावित करती है। उसके मौजूदा माहौल में विद्यमान कौन सी सामाजिक और राजनैतिक ताकतें उसे आगे ले जाती हैं, कौन सी पीछे खींचती हैं। यह संघर्ष जितना राजनैतिक और दार्शनिक है, उतना ही सांस्कृतिक भी है। कई मानों में यह संघर्ष बुनियादी तौर पर सांस्कृतिक संघर्ष होता है।

लेकिन परंपरा इन तमाम असरात के मूर्त और सचेत रूप को कहते हैं। परस्पर विरोधी और पूरक शक्तियों के आपसी टकराव से पैदा होने वाली प्रधान धाराएं अपने समाज की मूल परंपरा होती हैं। कला के क्षेत्र में किसी विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश में विकसित होने वाले कलारूप, शैलियां आदि कालांतर में परंपरा की शकल ले लेते हैं। वे अपने सांस्कृतिक परिवेश के प्रतीक बन जाते हैं और उस माहौल के लुप्त होने के बावजूद लंबे अर्से तक जिंदा रहते हैं। जीतने वाली ताकतें और हारने वाली ताकतें-दोनों ही अपनी मूल संस्कृति के मूर्त रूप गढ़ती हैं। यह रूप सरवाई करते हैं, अपनी संस्कृति के सत, उसके निचोड़ को खुद में समाए हुए। एक बहुत ही सतही सी मिसाल लेता हूँ। कथक नाच हुक्मरानों की दरबारी संस्कृति से, एक ठहरी हुई, इत्मीनान की संस्कृति से पैदा हुआ। दूसरी तरफ थिरकुट्टू खेतों में पसीना बहाते, रोटी के लिए संघर्ष करने वाले मेहनतकश तबके की संस्कृति से जनमा। नतीजतन कथक में ठहराव है, कांसट्रेशन और डीटेल है, डैकोरेटिव और ऑरनामेंटल तत्व हैं। थिरकुट्टू में ऊर्जा है, एलिमेंटल फोर्स है, भावनाओं का अपार सागर है, और कॉज और इफैक्ट में सीधा और इमीजियेट रिश्ता है। कथक जिंदगी के संघर्षों, समस्याओं और यथार्थ से जितना दूर लगता है, थिरकुट्टू उनसे उतना ही नजदीक लगता है, बल्कि उन्हीं का हिस्सा लगता है। दोनों ही पारंपरिक हैं। पर दोनों में से कौन सी परंपरा जीवंत परंपरा है, संघर्ष की परंपरा है, किस परंपरा में भविष्य के बीज हैं, कौन सी पिछड़ी हुई है, रुकी हुई है, यह तो

देखना ही होगा।

लेकिन इस अंतर को समझ लेने से भी सवाल हल नहीं हो जाता। जो परंपरा जीवंत है, प्रगतिशील है, उसे अपना लेंगे, जो पिछड़ी हुई, रुकी हुई है, उसे अस्वीकार कर देंगे-ऐसा मैं हरगिज नहीं कर रहा। हमारे रंगकर्म और हमारी परंपरा के रिश्तों का सवाल इससे कहीं ज्यादा पेचीदा है। किसी परंपरा का प्रगतिशील या इंकलाबी होना ही हमारे रचनाकर्म में उसके आने के लिए काफी नहीं है। मेरी नजर में सिर्फ वही परंपरा हमारी रचना का हिस्सा बनती है जिसे हम पूरी तरह अपना चुके हैं, जिसे हम ऐब्जॉर्ब कर चुके हैं, ऐसिमिलेट कर चुके हैं। और इसके बाद भी वह परंपरा जब हमारे कथ्य से टकराती है तो बहुत ही बदली हुई शकल में प्रकट होती है। वह हमारे कथ्य को अगर समृद्ध करती है तो उससे खुद भी समृद्ध होती है। हम जिस चीज को पूरी तरह अपना लेते हैं उसी में हम अच्छे बुरे का फर्क भी कर पाते हैं। जिस चीज से हमारा ऊपरी या बाहरी रिश्ता होता है, हम उसे सिर्फ अनक्रिटिकली एडमायर या रिजैक्ट ही कर सकते हैं।

परंपरा वही है जो हमारे वर्तमान परिवेश में, हमारे माहौल में विद्यमान है, ऐसी परंपरा खुद-ब-खुद हमारी रचना प्रक्रिया का हिस्सा बनती है। हर संवेदनशील कलाकार, हर सजग कलाकार अपनी मुख्तलिफ परंपराओं से प्रभावित होता है। केवल वे कलाकार जो अपने समाज से पूरी तरह एलिनएनेटेड हैं, वही अपनी परंपराओं से प्रभावित नहीं होते, उन्हें प्रभावित नहीं करते।



परंपरा से नज़दीकी!

मैं नौटंकी या यक्षगान में काम करना चाहता हूँ या नैचुरलिस्ट मोल्ड में, यह इतना अहम नहीं है जितना यह है कि मैं क्या करना चाहता हूँ। अगर कोई कहे कि मैं तो यक्षगान ही करना चाहता हूँ, या यह कि नौटंकी ही करना चाहता हूँ तो मेरे खयाल में वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। क्योंकि नौटंकी ही करना चाहता हूँ तो मेरे खयाल में वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। क्योंकि नौटंकी या यक्षगान, नौटंकी और यक्षगान होने के अलावा अपने अपने संदर्भों में एक विशेष सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक भूमिका भी अदा करते हैं। आपको यक्षगान करने के लिए इन तमाम चीजों को भी अपनाना होगा। और अगर इन चीजों को आप यक्षगान में से निकाल देंगे तो वह यक्षगान का सिर्फ़ खोल मात्र रह जाएगा। उस खोल में दूसरी मान्यताएं, दूसरे कॉन्सैप्ट्स; दूसरी कॉस्मोलोजी समा जाएगी या नहीं, यह एक दीगर बहस है। मसलन ब. व. कारंथ क बरनम वन को ही लीजिए। यक्षगान में शेक्सपीयर हुआ, बड़े धड़ल्ले से, बड़ी धूमधाम से हुआ। शेक्सपीयर की जन्मभूमि तक भी पहुंच गया। लेकिन अगर मेरी राय मांगें तो उस मंचन में न शेक्सपीयर था न यक्षगान। और हो भी नहीं सकता था। मुझे नहीं मालूम कि ब. व. कारंथ और उनके अदाकारों का यक्षगान से कितना नजदीकी संबंध था, वह उस फॉर्म को कितने इंटिमेंटली जानते थे। मगर प्रोडक्शन से यह बात साफ़ थी कि यक्षगान का एक ऊपरी डैक्रेटिव इस्तेमाल हो रहा था। शेक्सपीयर तो नष्ट हो ही रहा था, मेरे खयाल में यक्षगान के साथ भी काफी बदसलुकी हो रही थी। मेरी राय में ऐसा हर प्रयास, जिसमें एक फॉर्म को ज्यू का त्यू या लगभग ज्यू का त्यू उठाकर किसी दूसरे संदर्भ से निकले कथ्य पर लादा जाएगा, तो हमेशा यही होगा।

इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण हमारे सामने है। ब्रेख्त के नाटक कॉकेशियन चॉक सर्किल का प्रोडक्शन एम. के. रैना ने किया पराई कुक्ख के नाम से और एक प्रोडक्शन किया कविता नागपाल ने मिट्टी ना होवे मत्रेई के नाम से। दिलचस्प बात यह है कि दोनों प्रोडक्शन एक ही स्क्रिप्ट पर आधारित थे, यहां तक कि दोनों का संगीत, गीतों की धुनें तक वही थीं। लेकिन पराई कुक्ख एक रिलैटलैसली पोलिटिकल प्रोडक्शन था, उसमें जोर था माहौल पर, कथ्य पर। दूसरा प्रोडक्शन स्पेक्टाक्युलर था, उसमें कैलेंडरवाली क्वालिटी थी। उन्हीं पारंपरिक धुनों के बावजूद दूसरा प्रोडक्शन मेरी नजर में हरगिज नहीं जम पाया। फर्क था निर्देशकों के रवैए में, परंपरा और उनके रिश्ते की पुख्तगी में। इसीलिए जहां एक प्रोडक्शन में परंपरा डिवाइस बनकर गूजी, दूसरे में वह डिवाइस न बन पाई, अपनी प्योरिटी को स्थापित करने की कोशिश में बेजान हो गई, निर्जीव हो गई।

इस सिलसिले में मैं एक बार फिर दोहराऊंगा कि कथ्य और शैली दोनों का ही जन्म एक साथ होता है, एक ही जगह से होता है- कलाकार के रचना सागर से, उसके संदर्भ, उसके परिवेश से। जब शैली के चयन का साधन कथ्य के सिवा कोई और तत्व बन जाता है तो कला मेकैनिकल हो जाती है, उसका खात्मा शुरू हो जाता है। रूप तैयारशुदा शकल में नहीं रखे होते जिन्हें ज्यू का त्यू उठाकर इस्तेमाल कर लिया जाए।

तो हम पारंपरिक शैलियों में काम करेंगे किस बिनाह पर, किस आधार पर? मौजूदा निजाम की तरफ कलाकार का क्या रवैया है, यही मुक़रर करेगा कि अतीत की तरफ, परंपरा की तरफ उसका क्या रवैया होगा। सबसे पहले यह तय करना होगा कि आखिर हम चाहते क्या हैं, किस चीज की तरफ हम प्रतिबद्ध हैं, किन शक्तियों के साथ हम जुड़े हुए हैं, या किनसे जुड़ना चाहते हैं।

इसके विपरीत अगर कोई कहे कि वह चाहता है कि थियेटर को समाज का एक जीवंत हिस्सा बनाए, थियेटर और अवाम के रिश्तों को मजबूत बनाए, थियेटर को बहस और संघर्ष के मंच में तब्दील करे तो मेरे खयाल में वह कलाकार जिस भी ट्रेडिशन में काम करेगा, उसे भी सशक्त और समृद्ध करेगा और थियेटर को भी। बंसी कौल का आला अपसर इसकी एक ठीक ठाक मिसाल है।

मैं फिर बुनियादी सवाल पर लौटता हूँ। हम क्यूं निकलें पारंपरिक शैलियों की तलाश में? वह परंपरा नहीं, जिसे चिराग लेकर ढूंढना पड़े। परंपरा वही है जो हमारे वर्तमान परिवेश में, हमारे माहौल में विद्यमान है, ऐसी परंपरा खुद-ब-खुद हमारी रचना प्रक्रिया का हिस्सा बनती है। हर संवेदनशील कलाकार, हर सजग कलाकार अपनी मुख्तलिफ़ परंपराओं से प्रभावित होता है। केवल वे कलाकार जो अपने समाज से पूरी तरह एलिनएनेटिड हैं, वही अपनी परंपराओं से प्रभावित नहीं होते, उन्हें प्रभावित नहीं करते। मसलन दिल्ली में अंग्रेजी थियेटर करने वाले हमारे साथी।

कुछ साथियों का खयाल है कि हमारे रंगकर्म में उस वक्त तक 'भारतीयता' नहीं आएगी, उसकी जड़ें, उसका मौलिक चरित्र उस वक्त तक लुप्त रहेगा जब तक उसे पारंपरिक शैलियों से समृद्ध न किया जाए। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि 'भारतीयता' नाच गानों,

रिचुअलज, पूजा पाठ, बलि और कुसंस्कारों को दिखाने से नहीं आएगी। ऐसी भारतीयता तो सिर्फ आई.टी.डी.सी. के मतलब की हो सकती है। या उन तथाकथित कलाकारों के मतलब की जो साधनसंपन्न शहरी दर्शकों और विलायती लाट साहबों को थियेटर, सिनेमा, पेंटिंग बगैरह के जरिए दि रियल इंडिया' दिखाना चाहता है- जादू टोने, पूजा पाठ और धर्म दर्शन का रियल इंडिया, भूत प्रेतों, सुरों असुरों और साधु संतों का रियल इंडिया, आध्यात्मिक शांति, शांति, शांति ओउम् वाला रियल इंडिया!

यह ऐक्सपोर्ट ओरियंटल भारतीयता है, यह असली भारतीयता नहीं, यह हम सभी जानते हैं, हम सभी मानते हैं। भारतीयता हमारे रंगमंच में तभी आएगी, जब रंगकर्मी वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर, ईमानदारी और लगन के साथ मौजूदा भारतीय निजाम का अध्ययन विश्लेषण शुरू करेंगे। एक गैर वैज्ञानिक समझ को कितने ही पारंपरिक अंदाज से क्यूं न पेश करें, वह समझ गलत ही रहेगी।

पारंपरिक नाट्य रूपों के साथ हिंदुस्तानी रंगकर्मियों ने उस वक्त प्रयोग शुरू किए थे जब वह देश की तेजी से बदलती हुई स्थिति में अपनी भूमिका निभाने के लिए छटपटा रहे थे और उन्हें एक पुरानी फॉर्म, एक ट्रेंडिशन जकड़े हुए थे। उसे तोड़कर, उससे मुक्त होकर उन्होंने नए कथ्य और नए रूपों के साथ सामने आना शुरू किया और कई मानों में थियेटर को लोकप्रिय बनाने में कामयाबी भी हासिल की। लेकिन बदकिस्मती से आज पारंपरिक शैलियों की यह खोज लगभग एक मजाक बन गई है। पारंपरिक नाटक करना आज यथार्थ से मुंह मोड़ लेने का एक बहाना बन गया है, अपने बुनियादी काम, अपने फर्ज से पीछा छुड़ाने का एक आसान साधन बन गया है। कितना कन्वीनियेंट है ऐसा करना। भारतीय सत्य के नाम पर आज हम सिर्फ एक रंगीन स्पैक्टैकल दिखा के और देख के खुश हो लेते हैं, जबकि असल में उस स्पैक्टैकल की आड़ में हम दर्शकों को भारतीय सत्य से दूर ले जाते हैं। जो आंदोलन थियेटर की जबान की गहराई देने के लिए शुरू हुआ था, वही आज थियेटर को एक खला, एक शून्य की तरफ खींच रहा है। यह नतीजा है गैर वैज्ञानिक नजरिए से काम करने का। परंपरा, संस्कृति और वर्तमान स्थिति के तथा अपने रचनाधर्म के रिश्तों को ठीक तरह से समझे बगैर जो अंधाधुंध उठा पटक शुरू हुई, वह आज हमें यहां ले आई है कि नए और अच्छे नाटक लगभग न के बराबर लिखे जा रहे हैं, फिर भी मंचन बढ़ते जा रहे हैं। आज थियेटर करना कितना आसान हो गया है। बने बनाए कई फार्मूले हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए ठीक ठाक नाच गा लेने वाले अभिनेताओं और साजिंदों के सिवा और कुछ भी दरकार नहीं।

तो क्या मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि परंपरागत नाट्य शैलियों का हम एकदम बहिष्कार कर दें। नहीं, बिल्कुल नहीं। इसके विपरीत मैं यह समझता हूँ कि अपने रंगकर्म को, उसकी जबान को बढ़ाने के लिए विस्तृत, समृद्ध और गहरा करने के लिए हर रंगकर्मी को पारंपरिक शैलियों में खुद को ट्रेन करना चाहिए, उन शैलियों उन परंपराओं को गहराई से समझना चाहिए, उनको एब्जॉर्व करना चाहिए, उनके अंदर तक चले जाना चाहिए। यह परंपराएं इस हद तक हमारे चेतन का हिस्सा बन जानी चाहिए कि हमारे रोजमर्रा के अनुभव, हमारे संघर्ष इनके संपर्क में आकर रिवरबरेट करें। इसके

बाद हमारी अभिव्यक्ति सदियों की संचित जहानत की गूँज के साथ सामने आएगी। लेकिन यह शैलियां हमारी रचनाओं में बदली हुई शक्त में प्रकट होगी। यह खुद को कथ्य के अनुरूप ढाल चुकी होंगी। अपने संदर्भ से मुक्त होकर यह एक नए संदर्भ को समृद्ध करेगी और इसके साथ साथ खुद भी नया जीवन पाएंगी। इस कायाकल्प का साधन होगी हमारी दृष्टि, हमारा रवैया, हमारा नजरिया। परंपरा के प्रति हमारी सच्चा इज्जत। मैं समझता हूँ कि हबीब तनवीर ने एक खास परंपरा में पूरी तरह रच बस कर जो काम किया है, वह हमारा मार्गदर्शन कर सकता है वही सही तरीका है।

परंपरा को पूरी तरह अपनाए बगैर उसका इस्तेमाल नकली होता है, कृत्रिम होता है, उसमें शोषण का एलिमेंट होता है। इस किस्म की मौकापरस्ती किसी अच्छे कलाकार को शोभा नहीं देती। यह व्यवसायिक प्रवृत्ति है। कहने का मतलब यह है कि अगर हमारी प्रायॉरिटी थियेटर नहीं बल्कि पारंपरिक थियेटर है, तो हम स्वस्थ थियेटर का सृजन नहीं कर पाएंगे। नाटककार नाटक करता है समाज से जुड़ने की खातिर समाज को प्रभावित करने के लिए यह उसकी एक अंदरूनी जरूरत होती है। लेकिन जब वह अपनी अंदरूनी छटपटाहट को बाला-ए-ताक रखकर किसी एक खास तरह का थियेटर करने की कसम खा लेता है तो उसका पतन शुरू हो जाता



है। फिर वह सच्चा कलाकार नहीं, बल्कि किसी थोथी शैली का कमीशन एजेंट बनकर रह जाता है। पिछले १५-२० साल के इस दौर में ऐसे हादसे कई रंगकर्मियों के साथ हुए हैं।

आखिर मैं मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि पारंपरिक थियेटर के नाम पर हिन्दुस्तानी थियेटर को वाईटलाईज करने के मिशन में लगे कई रंगकर्मी कहीं न कहीं एक घटिया किस्म के रिवाइवलिज्म के भी पक्षकार हैं। वर्तमान यथार्थ को माजी के चश्मों से देखना, मौजूदा संघर्षों, मसलों, द्रंद्रों को अतीत के बिंबों, अतीत के मिथकों और मेटाफरों से आंकने का काम मुझे तो एक साजिश सा लगता है।

मेरे खयाल में मुख्य सवाल यही है कि वर्तमान में हम कहां, किस तरह खड़े हैं। हमारी क्या पोजिशन है। क्या हम आज की मुख्य धारा, यानी जनवादी परिवर्तन की धारा, के साथ हैं, या हम किसी ठहरी हुई धारा के साथ हैं। यही निर्धारित करेगा कि हमारा नाता किस परंपरा से जाकर जुड़ेगा, उस परंपरा से हमारा रिश्ता क्या होगा, उसे हम किस तरह इस्तेमाल करेंगे। ●

कार्ल मार्क्स पूँजीवादी संस्कृति में कला को एक बिकाऊ उत्पाद से अधिक नहीं मानते। यदि इस लिहाज से देखें तो आज की कलाएँ काफी कुछ पूँजीवादी कला के निकट जान पड़ती हैं। फिर भी उसका पर्याय मालूम नहीं पड़तीं। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी संस्कृति विशुद्ध तरीके से अपना खेल कुछ इस तरह खेलती है कि कला के बाज़ार के मैदान में कलाएँ फुटबाल की तरह इधर-उधर लतियाती एवं डोलती हुई दिखाई देती हैं।

बालकृष्ण शर्मा



कला पर पूँजी का ग्रहण

• डॉ. विजय अग्रवाल

पिछले लगभग दो दशक के उदारीकरण ने भारत में भी कला का एक नया परिदृश्य प्रस्तुत किया है। कला के इस नये परिदृश्य को न तो सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के सामन्तवादी परिदृश्य का आधुनिक संस्करण कहा जा सकता है और न ही इसे वैश्वीकरण से जन्मी पूँजीवादी संस्कृति की कला कहा जा सकता है।

सामन्ती कला के केन्द्र में दरबारी संस्कृति थी। हालाँकि रचनात्मक स्वतंत्रता वहाँ भी नहीं थी, किन्तु बाह्य तथा बाजार की शक्तियाँ इतनी प्रबल नहीं थी कि रचनाकार की रचनात्मकता का गला ही घोट दे। एक संवेदनशील रचनाकार भारतीय संस्कृति, संस्कार और लोक प्रसंगों के विस्तृत धरोहर में अपने लिए भी गुंजाइश निकाल ही लेते थे, जो उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके। उस समय चूँकि न तो कला का बाजार था और न ही बाजार की आज जैसी संस्कृति थी, इसलिए कलाकार कम से कम इस दिशा में तो निश्चिन्त ही था। भले ही रचनाओं में राजनीति और सामाजिक विद्रोह की हुँकार सुनाई न दे जो कबीरदास जैसों में सुनाई पड़ती है, फिर भी वह अपने भाव को काफी कुछ मुखर कर ही लेता था- बाजार की शक्तियों से पूरी तरह विमुख होकर।

कार्ल मार्क्स पूँजीवादी संस्कृति में कला को एक बिकाऊ उत्पाद से अधिक नहीं मानते। यदि इस लिहाज से देखें तो आज की कलाएँ काफी कुछ पूँजीवादी कला के निकट जान पड़ती हैं। फिर भी उसका पर्याय मालूम नहीं पड़तीं। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी संस्कृति विशुद्ध तरीके से अपना खेल कुछ इस तरह खेलती है कि कला के बाजार के मैदान में कलाएँ फुटबाल की तरह इधर-उधर लतियाती एवं डोलती हुई दिखाई देती हैं। यहाँ निजी पूँजीवादी प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं, जो कला का मूल्यांकन करते हैं और कला को अपना स्टेटस सिम्बल मानते हुए उसे अपने पास रखने में अपनी अहमियत का एहसास करते हैं। आज से लगभग पैंतीस साल पहले जब मैं अपने गाँव के जमींदार की बैठक के आबनूस की अलमारियों में रखी मोटी-मोटी किताबों को उत्सुकतावश उलट रहा था, तो मैं वह पहला बच्चा था, जो उन किताबों को खोलकर देख रहा था। मुझे उनके शुरु के पन्ने ही आपस में जुड़े दिखाई दिये। वह कला के पूँजीवादी उपयोग का एक छोटा-सा नमूना था।

वर्तमान में मैं जिस कापोरेट कल्चर की बात कर रहा हूँ, हालाँकि उसका जन्म पूँजीवाद के ही गर्भ से हुआ है और उसका आदर्शतम लक्ष्य भी धन के लिए काम करना है, किन्तु वह कुछ माने में उससे अलग भी है। अब इनके लिए कला से जुड़ना 'स्टेटस सिम्बल' न होकर ठीक उसी तरह से मनोरंजन का साधन हो गया है, जैसा सामन्तवादी युग में हुआ करता था। कापोरेट कल्चर इस मायने में सामन्तवादी और पूँजीवादी संस्कृति से काफी कुछ भिन्न है कि एक तो यह स्थानीयता से काफी परे है। स्थानीयता को इसने वहीं तक स्वीकार किया है, जहाँ तक वह उसके विषय के लिए मददगार सिद्ध हो सकता है। दूसरे यह कि इसने राष्ट्रीयता की सीमा से परे जाकर एक ऐसी वायवीय अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति से अपना हाथ मिलाया है, जो विश्व संस्कृति के नाम पर मूलतः अमेरिका की संस्कृति है। इसलिए कापोरेट में न तो स्थानीय रस है और न ही राष्ट्रीय भाव है। अब यह कला समीक्षकों, तथाकथित सहृदय रसास्वादकों पर निर्भर करता है कि वे इस तरह की संस्कृति को कौन-सा नाम देना चाहेंगे?

जाहिर है कि इस नयी संस्कृति के वाहक कापोरेट के कला के साथ अन्तर्सम्बन्ध भिन्न प्रकार के हैं। सामन्तवादी और पूँजीवादी संस्कृति में चूँकि शिक्षा और प्रशिक्षण का कोई विशेष स्थान नहीं था, इसलिए उनमें एक अलग ही तरह की मिट्टी की गन्ध मिल जाती है, फिर वे कला को कितना ही बेहूदे और फूहड़पन के साथ क्यों न स्वीकार करें, लेकिन कापोरेट कल्चर इससे अलग है। यह संस्कृति, व्यावसायिक-शिक्षा और प्रबन्धन के प्रशिक्षण पर आधारित संस्कृति है। अज्ञानता, अप्रशिक्षण के लिए यहाँ गुंजाइश नहीं है। अनगढ़ता को यहाँ स्वीकार नहीं किया जा सकता। और जो सुगढ़ता है, वह इतनी सुदृढ़ है कि गढ़ा हुआ सब कुछ एक जैसा दिखाई देता है। वैविध्यता तक के लिए ज्यादा सम्भावना नहीं है। यह एक अलग प्रकार का मिलिट्री रूल है, जहाँ सेना के सारे सिपाही दूर से बिल्कुल एक जैसे दिखाई देते हैं- टिप-टॉप और अटेन्शन की मुद्रा में।

साफ है कि संस्कृति के प्रति भी इस तरह के लोगों का एक अलग दृष्टिकोण होगा। इनके लिए वैज्ञानिक तरीके से बहुत व्यवस्थित रूप से तैयार की गयी अप-टू-डेट कला ही कला के मापदण्डों पर खरी उतरेगी। इनके पास कला के मूल्यांकन करने का एक कलात्मक और सौन्दर्यात्मक प्रतिमान न होकर गणितीय फार्मूले होते हैं, जिसकी कसौटी पर खरी उतरने वाली कला रातों - रात करोड़ों के वारे न्यारे कर सकती है।



चित्र : विवेक, सौजन्य - आर्ट इंडस

एक बात और है, जो किसी मायने में कम महत्व की नहीं है और यह वह बात है, जिसका अस्तित्व आज से लगभग तीन दशक पूर्व था तो लेकिन प्रभाव इतना अधिक नहीं था, यह है - मीडिया का प्रभाव। आज किसी भी कला और कलाकार के मूल्यांकन के लिए समीक्षकों, आलोचकों और सौन्दर्यशास्त्रियों के सहारे की इतनी जरूरत नहीं है जितनी मीडिया की है। यह वह युग है, जब एक कलाकार जीते जी मिथक में बदल सकता है, बशर्ते कि उसे मीडिया का सपोर्ट मिले। इसलिए कलाकार के कामों में एक नया डायमेशन यह जुड़ गया है कि वह कलाकार बनने के साथ-साथ या तो स्वयं मीडिया-प्रबन्धक बने या अपने साथ किसी मीडिया प्रबन्धक को जोड़े। एक बार साधन में कमी तो चल जायेगी, लेकिन मीडिया प्रबन्धन में कमी नहीं चलेगी।

मीडिया-प्रबन्धन की यह ताकत अब व्यक्ति के हाथ में न होकर मीडिया एजेंसियों के हाथ में चली गई है। ये मीडिया एजेंसी या तो कापोरेट सेक्टर के हैं या कापोरेट जैसे हैं। इनकी अपनी प्रवृत्तियाँ और कार्यप्रणालियाँ कापोरेट से भिन्न नहीं हैं। मीडिया पर इनका इतना जबरदस्त प्रभाव है कि उसके प्रभाव से शून्य हो पाने के लिए जिस आत्मशक्ति और प्रखर स्वावलम्बन चेतना की जरूरत होती है, उसे जुटा पाना थोड़ा मुश्किल ही लगता है। इसके पास प्रलोभन, आकर्षण, शक्ति और सत्ता के जितने तत्व मौजूद हैं, उन सारे तत्वों को लाँघकर एक स्वचरित्र स्थापित किये जाने की बात सोची तक नहीं जा रही है। यदि इनमें से इक्का-दुक्का कोई स्वचेता हो भी गया, तो उनकी भूमिका नक्काखाने में तूती की आवाज से अधिक नहीं है।

अब हम मीडिया के जिस नये चरण में प्रवेश कर रहे हैं, उसमें या तो कापोरेट के अपने-अपने मीडिया हो गये हैं या फिर जो पहले से ही मीडिया थे, वे कापोरेट मीडिया में तब्दील होने की प्रक्रिया में हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में भी किसी भी कला को अपनी पहचान बनाने के लिए उनका मोहताज होना उनकी मजबूरी हो गई है। बल्कि सच तो यह है कि यह मजबूरी और अनिवार्यता न होकर एक सहज कार्यप्रणाली ही हो गई है, क्योंकि कलाकारों को भी पहली बार यह छूट माली है और इस बात का एहसास हुआ है कि उनकी कला भी लाखों, करोड़ों की कीमत रखती है और वे भी एक शानदार जिन्दगी जी सकते हैं।

कला, कलाकार और कापोरेट के अन्तर्सम्बन्धों को यदि इस पृष्ठभूमि में देखें, तो उसके बहुत से



कापोरेट को कला नहीं चाहिए, बल्कि कला की भीड़ चाहिए। यदि यह सच नहीं है तो क्या कारण है कि बौद्धिक कार्यक्रमों को प्रायोजिक नहीं मिलते? उनका मूल उद्देश्य कला का विकास न होकर प्रत्यक्ष रूप से कला के विकास करने का श्रेय लेना, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से एवं प्रमुख रूप से अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करके अपने बाजार का विस्तार करना ही होता है।

नये चरित्र हमारे सामने स्पष्ट होने लगते हैं। कापोरेट क्षेत्र यह जानता है कि यदि उसने कला को पूँजीवादी व्यवस्था की तरह सीधा-सादा बिकाऊ माल बना दिया, तो उसके कलाप्रेमी कहलाने का आधार उससे छूट जायेगा। इसलिए वह कुछ ऐसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और छद्म तरीकों का इस्तेमाल करता है, जहाँ उसका अपना व्यवसायिक हित भी सध सके और उसे कलाप्रेमी होने का गौरव भी प्राप्त हो सके। इसके साथ ही कला जगत से प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा और तथाकथित आनन्द का भी वह सुख भोग कर सके। निश्चित रूप से कलाओं को प्रायोजित किया जाना इसका एक खूबसूरत तरीका है। आज केवल क्रिकेट और टेनिस जैसे खेल ही प्रायोजित नहीं किये जा रहे हैं बल्कि रंगमंच, कला दीर्घाएँ तथा नृत्य एवं गीत कार्यक्रम भी प्रायोजित हो रहे हैं। इसका एक सकारात्मक पक्ष तो यह जरूर है कि इसके कारण कलाओं का विकास हो रहा है। लेकिन इसका नकारात्मक पक्ष यह भी है कि इन सबके कारण अब कलाएँ कैरियर अधिक रह गयी है और रचनात्मक कम।

कापोरेट को कला नहीं चाहिए, बल्कि कला की भीड़ चाहिए। यदि यह सच नहीं है तो क्या कारण है कि बौद्धिक कार्यक्रमों को प्रायोजिक नहीं मिलते? उनका मूल उद्देश्य कला का विकास न होकर प्रत्यक्ष रूप से कला के विकास करने का श्रेय लेना, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से एवं प्रमुख रूप से अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करके अपने बाजार का विस्तार करना ही होता है। साथ ही वे एक स्वयंसेवी संगठन की तरह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध कराकर उनसे उनकी चेतना में इस झूठे तथ्य को भी रेखांकित करना चाहते हैं कि हम विशुद्ध व्यवसायिक नहीं हैं, बल्कि हमें कला और संस्कृति की भी इतनी ही चिन्ता है। इसलिए जरूरी है कि बदले में आप हमारी

भी चिन्ता करें। मजेदार बात तो यह है कि यह सब कुछ न तो अनजाने में हो रहा है और न ही छिपकर हो रहा है। साफ-साफ हो रहा है और जानबूझकर किया जा रहा है।

कापोरेट और कलाओं का दूसरा सम्बन्ध यह है कि इन कलाओं को कापोरेट की दीवारों और कमरों में भी स्थान मिलने लगा है। इसे एक प्रकार से कलाओं का लोकतंत्रीकरण होना कहा जा सकता है। यह बात अलग है कि इस लोकतंत्रीकरण में हिस्सेदारी समाज के कुछ विशिष्ट लोगों की ही है। चित्रकला और शिल्पकला इस दृष्टि से अधिक लाभ की स्थिति में है।

इसका प्रभाव यह हुआ है कि जहाँ कला और संस्कृति से जुड़ी संस्थाएँ और अकादमियाँ कलाओं के प्रोत्साहन का काम करती थीं, वहीं अब कलाओं के प्रशिक्षण के लिए न जाने कितनी तरह के कोचिंग सेण्टर खुल गये हैं। यह कापोरेट सेक्टर द्वारा पैदा की गई माँग की पूर्ति कला से जुड़ी नैसर्गिक प्रतिभा का सिद्धांत स्थगित हो गया है और 'करत-करत अभ्यास के' का सिद्धांत प्रमुख हो गया है। अब यह माना जाने लगा है कि कला न केवल सिखाई जा सकती है, बल्कि यह कि कला सिखाई ही जाती है। सिखाई गई इस कला का स्वरूप कापोरेट के कार्य और ड्रेस कोड की तरह बिल्कुल अप-टू-डेट और सलीके वाले होते हैं। किसी बड़े कापोरेट के किसी बड़े मालिक का कला के बारे में कहा गया एक प्रशंसात्मक वाक्य उस कलाकार को रातों-रात सिलेब्रेटी बना देता है। इस प्रकार चेयरमेन आफ दि कापोरेट, सी.ई.ओ. आफ दि कापोरेट या एम.डी. आफ दि कापोरेट अपने संस्थान के ही भविष्य का निर्धारण नहीं करता, बल्कि एक कलाकार के भी भविष्य का निर्धारण करने की ताकत रखता है। यह तो हो सकता है कि वह किसी कलाकार के भविष्य को बिगाड़ न सके, लेकिन यदि वह चाहे तो यह कभी नहीं हो सकता कि वह उसके भविष्य को संवार सकता हो। कम से कम आज का जगत वह जगत नहीं है, जब फिल्म 'सिटीजन केन' बनी थी और उसका खरबपति मालिक मीडियामेकर होने के बावजूद अपनी प्रेमिका को श्रेष्ठ गायिका नहीं बना सका था।

इस पूरे के पूरे आधुनिक परिदृश्य में यदि ईमानदारी से देखा जाये तो कलाकार एक बाजारू जीव जैसा ही नजर आता है। इस बेचारगी को केवल रचनात्मक स्तर पर लिया जाना चाहिए, न कि आर्थिक और सामाजिक स्तर पर। आर्थिक स्तर पर वह पहले से शानदार हुआ है और सामाजिक स्तर पर वह सिलेब्रेटी भी तथा पेज-श्री पर स्थान पाने की प्रतीक्षा कर रहा है और यह तभी सम्भव होगा जब पहले वाला उसके लिए कुछ जगह खाली करे।

निश्चित रूप से यह युग कला का एक शानदार, भव्य किन्तु अत्यन्त बेचारगी का युग जान पड़ता है। नहीं मालूम कि ऐसे में ऐसा कौन-सा रास्ता निकलेगा या फिर ऐसा कौन-सा रचनात्मक विस्फोट होगा, जहाँ कला की नयी फुलझड़ियाँ दिखाई देंगी। कला के इस भव्य समारोह में छोटी-छोटी फुलझड़ियों के लिए स्थान की गुंजाइश लगातार कम होती जा रही है। ●

संवाद की मर्यादाएँ

● निर्मल वर्मा

प्रश्न

संवाद आत्मा की जरूरत है। मैं उसे एक तरह की भूख मानता हूँ, जिसे मनुष्य ने उस 'आदि क्षण' में महसूस किया होगा, जब उसे लगा होगा कि वह मनुष्य है; अपने में अकेला है, लेकिन उसके साथ हैं। हम अपनी आँखों से अपने को नहीं देख सकते, लेकिन दूसरों को देख सकते हैं, और हमें यह आशा बँधती है कि हम भी उन्हीं की तरह होंगे। वे हमारा, हमारी देह और आत्मा का आईना-सा बन जाते हैं। एक-दूसरे को देखने की प्रक्रिया में शब्द का जन्म हुआ होगा। वह मैं भी है और दूसरा भी। शब्द केवल संवाद का माध्यम नहीं, हमारे होने का साक्षी भी है। हमारे होने का रहस्य उसके भीतर निहित है। इसलिए शब्द शुरू में था और हम उसमें शुरू हुए हैं।

एक-दूसरे को पहचानने की खोज आज भी जारी है। शब्द पर जितने आक्रमण हुए हैं, उन्हे हमारी आत्मा ने भी झेला है। किन्तु एक समय आता है और शायद यह हो जाता है कि आत्मा मृतप्राय-सी हो जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक ऐसे वर्ष आए जब हम प्रगति, विज्ञान, आधुनिकता की अंधाधुंध दौड़ में यह पूछना भी भूल गए कि यह दौड़ किसलिए है? हम कहाँ भाग रहे हैं? हमें जहाँ पहुँचना है? ये प्रश्न किसी एक अकादमीय अनुशासन के भीतर नहीं आते, न ही इनका उत्तर कोई विशिष्ट राज्यसत्ता या संस्कृति दे सकती है। ये मनुष्य के प्रश्न हैं, जिन्हें समूचा मनुष्य ही दे सकता है क्योंकि इस तरह का 'समूचा मनुष्य' आज खंडित हो चुका है। ये प्रश्न भी केवल आदमियों, सेमिनारों या बुद्धिजीवी गोष्ठियों में उठाए जाते हैं और वहीं दफना भी दिए जाते हैं। सार्थक संवाद के भीतर यह जरूरी है कि इन शंकाओं और जिज्ञासाओं को बुद्धि की चहारदीवारों से उठाकर दैनिक जीवन के कुरुक्षेत्र में प्रस्तुत किया जाए। यह कुरुक्षेत्र राजनीति का मैदान भी है और व्यक्तिगत नैतिकता का धर्मक्षेत्र भी। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जहाँ स्वयं मनुष्य के अस्तित्व का प्रश्न है, वहाँ उस अस्तित्व के अर्थ और धर्म को ऐसी शक्तियाँ परिभाषित करती हैं, जिनका अपना कोई नैतिक दायित्व नहीं। जिस शब्द को हमने अपनी पहचान का ईश्वर माना था, उस शब्द के संवाहक हैं झूठ और धर्मसत्यों से भरे अखबार, बाजारू पत्रिकाएँ, राजनीतिज्ञों के स्वार्थलिप्त भाषण, जिनका मनुष्य के सत्य और अनुभव से कोई सरोकार नहीं, क्योंकि हर व्यक्ति अपने सीमित क्षेत्र में आत्मलिप्त है। हमें दूसरे मनुष्य को जानने का मौका अपनी आत्मा की भूख से उत्प्रेरित होकर नहीं, इतर शक्तियों और स्वार्थों द्वारा निर्मित एक बनी-बनाई 'इमेज' द्वारा मिलता है। हम छायाओं की दुनिया में छायाओं से वार्तालाप करते हैं, उन शब्दों के सहारे जो 'नाटक' एक ऐसी विधा है जो अपना अलग अस्तित्व रखती है। जहाँ अन्य साहित्यिक विधाओं की यात्रा



मुद्रि होने, पढ़े जाने या सुने जाने पर समाप्त होती है, वही नाटक की यात्रा इसके कुछ आगे बढ़ते हुए दृश्यत्व एवं श्रव्यत्व के साथ जब वह मंचित हो जाता है तब ही पूर्ण हो जाती है। दरअसल मंच पर प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही नाटककार नाटक की रचना करता है। इस प्रकार नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो रंगकर्मियों की कला के माध्यम से अमूर्त से मूर्त बन जाती है। अब ऐसी स्थिति में जब नाटक के अध्यापन की बात आती है तो प्रश्न उठता है कि उसे किस रूप में पढ़ाया जाए? साहित्यिक विधा के रूप में या प्रदर्शनकारी विधा के रूप में? कुछ लोगों का यह कहना हो सकता है कि जब विश्वविद्यालयों में या कॉलेजों में हम नाटक पढ़ाते हैं तो उसे एक साहित्यिक विधा के रूप में पढ़ाते हैं, इसलिए हमें केवल उसकी साहित्यिक विशेषताओं पर ही केंद्रित करना चाहिए। परन्तु, क्या इस तरह सोचना एकांगी नहीं होगा? जब हम यह स्वीकार करते हैं कि नाटक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसके साथ दृश्यत्व एवं

श्रयत्व जुड़ा रहता है तब उसके अध्ययन के अंतर्गत नाटक के इस रूप की उपेक्षा करना क्या सही होगा?

यह सही है कि जब कोई भी अच्छा नाटककार नाटक लिखता है तब वह नाट्य-प्रसंगों को विजुअलायज करते हुए नाटक लिखता है। परन्तु, वही नाटक जब निर्देशन-प्रक्रिया से गुजरते हुए मंच पर प्रस्तुत होने लगता है तब उसका एकदम नया रूप दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। हर पाठक रचनाकार द्वारा प्रस्तुत ब्योरों के आधार पर अपनी बुद्धि, कलात्मक, संस्कारों तथा कल्पना-शक्ति के अनुसार नाटक के पात्रों और घटनाओं के मानसिक चित्र बनाता है। परन्तु उसी नाटक को जब वह मंचित रूप में उन्हीं मानसिक चित्रों को सजीव होते हुए, गतिशील कार्यव्यापार के रूप में देखता है। पढ़ते हुए जिन पहलुओं को वह उतनी तीव्रता से महसूस नहीं कर पाता, उन्हें वह मंचित नाटक में महसूस कर पाता है, बशर्ते आवाज में भी परिवर्तन होता है, स्वर तेज हो जाता है, और जैसे ही घोड़ों की टापों की आवाज दूर जाने लगती है, वह मानो एकदम शिथिल सी हो जाती है। अब इस प्रसंग को कोई साहित्य का अध्यापक कैसे पढ़ाएगा? अगर नीरस भाव से, तटस्थ रूप में कोष्ठक में लिखे शब्दों को वह पढ़ता जाएगा तो फिर उस प्रसंग का तो पूरा सौंदर्य ही खत्म हो जाएगा। अगर उसमें अभिनय के कुछ गुण हों तब ही वह उन शब्दों के साथ कुछ न्याय कर पाएगा। परन्तु, हर साहित्य का अध्यापक तो अच्छा अभिनेता नहीं हो सकता। ऐसे में क्या किया जाए? अगर संभव हो तो आस-पास के रंगकर्मियों की मदद यहाँ ली जा सकती है।

अगर कोई मंडली आपके लिए पाठ्यक्रम में लगाए गए नाटक का मंचन करने को तैयार है तो बहुत ही अच्छा, नहीं तो किसी रंगकर्मियों को नाट्य पाठ के लिए आमंत्रित किया जाता है। जहाँ रंगमंच की शिक्षा पाठ्यक्रम में होती है, वहाँ के विद्यार्थी तो प्रस्तुतिकरण से जुड़े हुए होते ही हैं। परन्तु, जहाँ 'रंगमंच' पाठ्यक्रम का विषय नहीं होता वहाँ के विद्यार्थियों को भी संभव हो तो पाठ्यक्रम में लगाए गए नाटक के प्रस्तुतिकरण में गर इनवॉल्व कर दिया जाए तो विद्यार्थी उस नाटक के रंगमंचीय पहलुओं को भी अच्छी तरह समझ सकेंगे। नाटक को मंचित कर विद्यार्थियों को दिखाने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी हो सकती हैं। ऐसे में अगर अध्यापक और कुछ नहीं तो कम से कम किसी अच्छे कलाकार से नाटक के संवाद रिकॉर्ड करके उन्हें क्लास में बच्चों को सुना सकता है। हो सकता है कि ऊपर दिए गए सुझावों पर अमल कर पाना हर किसी के लिए संभव न हो। परन्तु, साथ ही यह भी सही है कि पाठ्यक्रम को पूर्ण करने के उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अगर हम किसी कहानी या उपन्यास की तरह की नाटक को पढ़ाते जाएंगे तो हम उस नाटक के अध्ययन के साथ न्याय नहीं कर पाएंगे। दरअसल रंगमंचीय पक्षों का ख्याल रखते हुए नाटक का अध्यापन करने से रंगमंच के प्रति विद्यार्थियों की उत्सुकता को भी बढ़ाया जा सकता है। जहाँ पहले ही स्तरीय रंगमंच के अस्तित्व को लेकर काफी चिंताएँ जताई जा रही हैं, वहाँ अगर विद्यार्थी जीवन में ही रंगमंच के प्रति युवाओं का प्रेम बढ़ने लगे तो रंगकर्मियों को उत्पन्न करने की दृष्टि से न सही, लेकिन कम से कम रंगमंच के दर्शक तैयार करने की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अध्यापक अपना योगदान दे सकते हैं।



हिन्दी नाटककार विलुप्त होती प्रजाति है!

• विनय उपाध्याय

हिन्दी के बीमारू प्रदेश नाटकों की कमी पर शर्म भी नहीं करते। भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद, साम्प्रदायिक उन्माद में अक्सर डूबे रहने वाले ये बीमारू राज्य व-या नाटक लिख सकते हैं। लगता है हिन्दी नाटककार एक विलुप्त होती प्रजाति है।

बेसाखा, बेशुमार और बहुरंगी रचने के बावजूद किसी लेखक की कोई एक कृति उसकी शिखरियत का पर्याय बन जाती है। असगर वजाहत की शोहरत और मकबूलियत के साथ भी कुछ ऐसा ही संयोग चस्पा रहा। कहानी, उपन्यास, नाटक और सिनेमा टीवी की पटकथाएं लिखने वाले अपने किस्म के इस धुनी कलमकार को आज भारत और सरहद पार के मुल्कों में जिस एक कृति ने बुलंदी पर पहुंचाया वो है- 'जिन लाहौर नई देखा, ओ जन्म्याई नई'।

साम्प्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठाता यह नाटक, देश के विभाजन की मानवीय त्रासदी और इंसानी रिश्तों पर सौहार्द की सनातन आकांक्षा की अनुगूँज पैदा करता है। 'लाहौर' की इस लहर से भारत का तो शायद ही कोई सूबा बचा हो। पच्चीसों नाट्य निर्देशकों ने इसे मंचन के लिए चुना और सैकड़ों बार हजारों-लाखों दर्शकों ने इसे देखा-सराहा। हबीब तनवीर के 'चरणदास' की तरह असगर वजाहत के 'लाहौर' की कुंडली में भी अपार यश और लोकप्रियता लिखी है। तमाम विचलनों के इस दौर में ऐसी बेहिसाब सार्वजनिक अभिस्वीकृति कम लेखकों के हिस्से आई है। बहरहाल, अपने इसी बहुमंचित-बहुचर्चित नाटक की एक और प्रस्तुति के सिलसिले में असगर वजाहत का भोपाल आना हुआ। 'रंग समूह प्रयोग' ने उन्हें अपने इस प्रयोग की दसवीं पेशकश के बहाने आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया। निर्देशक सतीश मेहता की मनुहार का वजाहत ने मान रखा। मनोयोग से मंचन देखा। भारत भवन में दर्शकों से मुखातिब हुए तो दो बातें कीं और मीडिया के सवालोंने पर अपनी तबीयत के मुताबिक तार्किक संवाद किया।

असगर वजाहत उन चंद लेखकों में शुमार किए जा सकते हैं, जिन्होंने साम्प्रदायिकता के अलावा अनेक ज्वलंत मुद्दों पर गंभीर विमर्श किया है। उनका मानना है, कि सियासत ने जब आज पूरे मुल्क को 'अंधेर नगरी' बना दिया है, तब एक सच्चे लेखक की बेचैनी भला क्या हो सकती है। लेकिन बकौल उन्हीं के- 'बुद्धिजीवियों की भूमिका संतोषजनक नहीं है। या तो वे भ्रष्ट हो गए हैं या उन्हें साइड लाइन कर दिया गया है।' बताते हैं अलीगढ़ से वे दिल्ली पत्रकारिता के लिए आए थे। हिन्दी में स्नातकोत्तर थे। पत्रकारिता तो मूल पेशा नहीं बन पाया, मगर लेखनी ने वो कमाल किया कि अदब की दुनिया में वे अलग से पहचाने गए। जामिया मिल्लिया विश्वविद्यालय नई दिल्ली में अध्यापकी की। सत्तर के दशक में कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया था। पहली कहानी बनी- 'वह बिक गई'। उसके बाद संग्रह आए 'दिल्ली पहुंचना है' 'स्विमिंग पूल' 'अब कहाँ कुछ'। नाटक लिखना शुरू किया तो 'लाहौर' से लेकर 'फिरंगी लौट आए' 'इन्ना की आवाज' 'वीरगति', 'सनिधा' और 'अकी' तक बेसाखा लिखते रहे। उपन्यास भी रचे जिनमें 'रात में जाने वाले' और 'सात आसमान' काफी चर्चा में रहे। लेकिन जैसा कि उनकी शिखरियत के बारे में शुरू में कहा गया, वे बहुआयामी लेखनी के धनी हैं। सो, वृत्त चित्र 'गजल की कहानी' हो या फिर टी.वी. धारावाहिक 'बूंद-बूंद' वजाहत लेखनी के इन सांचों में भी बखूबी ढलने का माद्दा रखते हैं। एक पोशीदा पहलू यह भी कि हंगरी (बुडापेस्ट) में उनके चित्रों की दो बार नुमाइश भी हो चुकी है। देश-विदेश में उन्हें व्याख्यानों के लिए भी बुलाया जाता रहा। लेकिन इस सारी विलक्षणता के बावजूद वे साहित्य की दलगत राजनीति से बेहद नाराज हैं, जिसने सही मूल्यांकन से तौबा कर आज अबौद्धिक और घटिया रुख अपना लिया है।



'लाहौर' के लेखक की खरी-खरी

बहरहाल इस सब उठा-पटक के चलते वे इस बात पर संतोष जताते हैं कि उनके लिखे कहे को पाठक-श्रोता ने कभी खारिज नहीं किया। भोपाल में नाटक 'लाहौर' के शताधिक प्रयोगों का जिक्र छिड़ा, तो उन्होंने सूचना दी कि जल्दी ही यह नाटक सिनेमा की शक्त लेगा। वजाहत की धारणा है कि नाटक की कसौटी मंचन है। किताबी दायरे में वह बेमौत मारा जाता है। 'लाहौर' की किस्मत में शोहरत की रोशनी

जब तक
सृजनधर्मियों के
पास कोई आदर्श,
कोई सपना, कोई
लाहर नहीं है,
उनकी कलाओं में
जान नहीं पैदा हो
सकती। रही बात
अन्य संस्थाओं
की तो बहुतों के
'अपने' एजेंडे
तय हैं।

लिखी थी, वरना राजनीति और समाज पर कटाक्ष करते मेरे ही एक और नाटक 'अकी' को प्रसिद्धि के पंख नहीं मिले। वजह कि इस नाटक को मंचित करने में दिलचस्पी नहीं ली किसी ने। दुर्भाग्य से आज नाटक करने वालों का साहस भी चुक गया है। आप देखें कि हबाब तनवीर को अपने 'साहस' की कितनी बार कीमतें चुकानी पड़ीं।

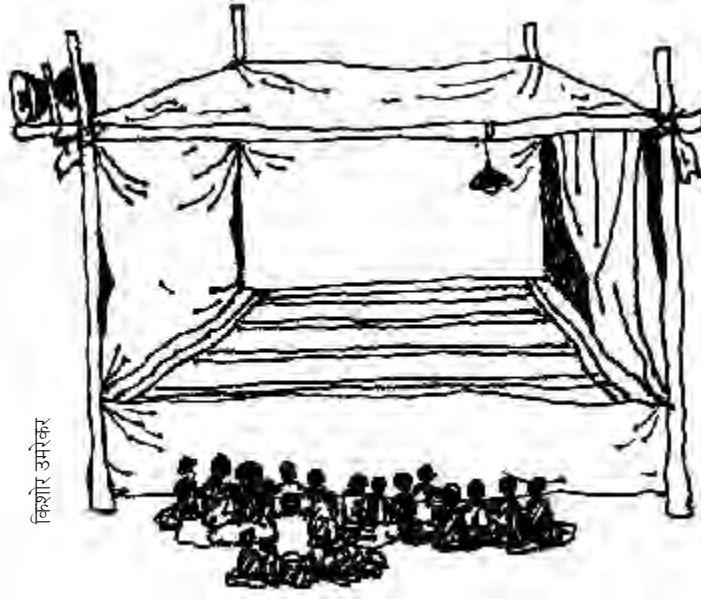
असगर वजाहत की यह चिंता भी गौरतलब है कि हिन्दी प्रदेशों में साहित्य और संस्कृति का दृश्य काफी दबा हुआ है। सांस्कृतिक जागरूकता और आंदोलन के अभाव में हिन्दी प्रदेश एक तरह से चेतना शून्य हो गए हैं। इस शून्य को कैसे तोड़ा जाए यह एक बड़ा सवाल है। देश में असहिष्णुता का जो माहौल है उसका असर नाटक पर भी पड़ रहा है। असगर बताते हैं कि कुछ साल पहले जयपुर में फिल्म अभिनेता ए.के. हंगल ने बड़े मार्के की बात कही। हंगल के अनुसार 'इप्ता' जैसे सक्रिय नाट्य अभियान की सांसें अगर रुक गईं तो उसके पीछे कारण प्रतिरोध के खिलाफ भीतर के जुनून का ठंडा पड़ जाना है। जब तक सृजनधर्मियों के पास कोई आदर्श, कोई सपना, कोई लाहर नहीं है, उनकी कलाओं में जान नहीं पैदा हो सकती। रही बात अन्य संस्थाओं की तो बहुतों के 'अपने' एजेंडे तय हैं।

असगर वजाहत हिन्दी में अच्छे नाटक लिखे जाने की पैरवी करते हैं, जैसे कि मराठी, बांग्ला, गुजराती या कन्नड़ में हैं, लेकिन हिन्दी के बीमारू प्रदेश नाटकों की कमी पर शर्म भी नहीं करते। भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद, साम्प्रदायिक उन्माद में अक्सर डूबे रहने वाले ये बीमारू राज्य क्या नाटक लिख सकते हैं। हिन्दी का दुर्भाग्य यह है कि यह इतनी बड़ी भाषा है और अगर इसकी बड़ी संस्कृति है, तो इसको बचाने, पालने-पोसने तथा आगे बढ़ाने की कोई चिंता क्यों नहीं करता? लगता है हिन्दी नाटककार एक विलुप्त होती प्रजाति है।

वजाहत कहते हैं- मेरे पास एक पूरा नाटक लिखने की रूपरेखा है, मैं जानता हूँ कि इस नाटक को अगर लिख दिया तब भी यह मंचित नहीं हो पाएगा। इसलिए केवल पत्रिकाओं में नाटक छपवाने के लिए लिखना बेकार है। सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित यह नाटक एक ग्रीक कथानक से प्रभावित है। अब ऐसे हालातों में भी हम हिन्दी नाटकों की दशा और दिशा पर निरर्थक बहस करते रहें, यह ठीक नहीं।



असगर वजाहत के बहुमंचित - बहुचर्चित नाटक 'जिस लाहौर नई देखा...' के मंचन का एक दृश्य



रंगमंच: अकाल अभिनेत्रियों का

सतीश मेहता

नाटक को सहज रूप में परिभाषित करना हो तो कहा जा सकता है कि किसी घटना की कलात्मक अनुकृति नाटक कहलाती है। हमारे इस संसार में घटित होने वाली घटनाओं में पुरुषों के साथ महिलाओं की सहभागिता भी होती है, तदनु रूप नाटकों में भी पुरुषों के साथ महिलाओं की भूमिकाएँ होना स्वभाविक ही हैं।

सदियों से हमारे देश के गाँव-गाँव में लोक नाटकों का प्रचलन रहा है। देश के हर अंचल में अपनी-अपनी शैली के लोकनाटक विकसित होते रहे हैं। लेकिन इन नाटकों में महिलाओं की भूमिकाएँ पुरुष ही करते रहे हैं। विदेशी आक्रमणों ने महिलाओं को न केवल नाटक बल्कि अन्य अनेक गतिविधियों में भाग लेने से वंचित कर रखा था। आजादी के बाद स्थिति थोड़ी बदली है, लेकिन जहाँ महानगरों में यह परिवर्तन महसूस होता है, वहीं छोटे शहरों में अभी भी नाटकों में भाग लेने वाली महिलाओं की संख्या बहुत कम है। गाँव में तो स्थिति में अन्तर आने का संकेत आज भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

पिछले पैंतीस वर्षों के अपने रंग-निर्देशन के दौर में मैंने पाया है कि जहाँ पुरुष रंगकर्मी पिछले 20-25 वर्षों से मेरे साथ रंगकर्म कर रहे हैं, वहीं महिलाओं के लिए निरन्तरता बनाये रखना संभव नहीं होता। मेरे इस कथन के अपवाद कुछेक महिलाएँ हैं। लेकिन वे अपवाद या विशेष कारण वश ही संभव हो सके हैं, मैं जिनका उल्लेख बाद में करूँगा। मेरे अपने माध्यम से दर्शाई गई उपरोक्त स्थिति ही एक सामान्य स्थिति है और सभी रंगकर्मियों पर लागू होती है। आज के दौर में बच्चों को किसी कलागत गतिविधि में पारंगत बनाना प्रत्येक माता-पिता की चाहत है। इसी के चलते अनेक

परिवारों में लड़कियों को नाटक में भागीदारी हेतु प्रेरित किया जाता है, जो बहुत अच्छी स्थिति है। लेकिन जब ये लड़कियाँ अभिनय में अपनी साख बनाने लगती हैं, तब इनकी शादी हो जाती है और तब उन्हें नाटक से विदा हो जाना पड़ता है। कारण ढेर-सारे हैं। हमारे समाज में ऐसे सास-श्वसुर अथवा पति बिरले ही हैं, जो घर की बहू को नाटक में भाग लेने की अनुमति देते हों। मैं सचमुच ऐसे जनों को महान मानता हूँ, जो अपने घर की बहू को नाटक में अभिनय करने हेतु अनुमति और सुविधाएँ प्रदान करते हैं। इसके अलावा पारिवारिक दायित्व, बच्चों का जन्म और पालन-पोषण, सामाजिक दबाव, वगैरह, जाने कितनी चीजें हैं, जिन्हें महिलाओं को हवाले कर पुरुष मुक्त हो जाता है और इन सब का निर्वाह करने को बची रहती है, वह निरीह महिला जो कभी अपने अभिनय से पूरे दर्शक-समाज को मुग्ध कर लेती थी। ऐसी सारी महिलाएँ उसी जीवन को ही अपनी नियति मान कर स्वीकार

घर-बार से दूर अविवाहित रह कर रंगकर्म का संकल्प लिए ऐसी महिलाएँ अन्ततः किस अनजान नियति की ओर अग्रसर हैं, वे स्वयं नहीं जानती। इनके अलावा वे महिलाएँ भी हैं, जो अपने रंग-प्रेम के कारण गृहस्थी की जिम्मेदारियों का परित्याग कर रंगकर्म कर रही हैं, लेकिन इसका खामियाजा उनका परिवार और वे स्वयं भुगत रही हैं। बावजूद उन महिलाओं के आगे नतमस्तक होना चाहिए, जो लगातार सक्रिय हैं और संघर्षों के बाद भी इस कठिन कार्य में जुटी हुई हैं।



कर लेती है और कालान्तर में वे रंगकर्म और रंगकर्म उन्हें विस्मृत कर देता है। अपने रंग-जीवन में मैंने अभिनय की ऊँचाईयाँ छूने को तत्पर अनेक लड़कियों के रंग-जीवन पर पूर्ण विराम लगते देखा है नाटक से विदाई उन्हें तो खलती होगी ही, किन्तु मेरा निर्देशक मन भी ऐसी विदाईयों से बहुत कचोटता रहा है।

दो घटनाओं का जिक्र करना यहाँ उचित होगा। लगभग 30 वर्ष पूर्व मैंने इन्दौर में 'जुलूस' नाटक का निर्देशन किया दरअसल इसे मैंने नुक्कड़ पर खेले जाने के लिए तैयार किया था, किन्तु अपने रंगकर्म-अभिनयकर्ताओं को बताया नहीं था एक तो मैं उन्हें चकित कर देना चाहता था, दूसरे चूँकि यह पहला नुक्कड़ प्रदर्शन होना था, और कलाकार इसे अटपटा न समझे और सहज रूप से अभिनय करें, यही मेरी चाहत थी। नाटक को तैयार करने के बाद मैंने इसके प्रथम चार प्रदर्शन स्कूल, वगैरह के हालों में दर्शकों को चारों ओर बैठा कर किये। पाँचवा प्रदर्शन मैं नेहरू पार्क में खुले आकाश तले करना चाहता था। जब मैंने इस प्रदर्शन की घोषणा की, तो नाटक में अभिनय करने वाली एकमात्र लड़की ने स्पष्टतः इन्कार कर दिया कि वह इस तरह सार्वजनिक रूप से नाटक नहीं कर सकती। प्रदर्शन में केवल एक दिन शेष था। ऐसे में मेरी पत्नी ज्योत्सना, जो स्वास्थ्य संबंधी कारणों से नाटक में शुरू से भाग नहीं ले सकी थीं, ने वह



भूमिका स्वीकार की और हम अगले दिन नुक्कड़ नाटक का प्रथम प्रदर्शन कर इतिहास बना सके। दूसरी घटना हाल ही की है, जब हमें अपना नाटक करने किसी शहर में जाना था। नाटक की एक अभिनेत्री ने यह कर कि उसे घरवालों से बाहर जाने की अनुमति नहीं है, इन्कार कर दिया और हमें वह महत्वपूर्ण दौरा निरस्त करना पड़ा।

दोनों घटनाओं का अंतराल तीस वर्ष का है, लेकिन जिक्र करने का तात्पर्य यही है कि हमारी सामाजिक स्थितियों में बहुत अधिक अन्तर नहीं आया। कहने को तो हम बहुत प्रगति कर रहे हैं, लेकिन क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता कि भारत

के इस सागरनुमा संसार में प्रगति के कुछेक द्वीप ही उग सके हैं। आपने कभी गौर किया हो तो पाया होगा कि नाट्य-लेखन करते हुए नाटककार इस बात को ध्यान में रखते हैं कि नाटक में महिला पात्रों की संख्या कम-से-कम हो। इसी तरह नाटक के निर्देशक भी मंचन के लिए नाटक चुनते समय कम-से-कम महिला पात्रों वाले नाटक का चुनाव करते हैं। ऐसा हमें इसलिए करना होता है कि हम इस तथ्य से परिचित हैं कि किसी भी शहर में महिला रंगकर्मी बहुत सीमित संख्या में उपलब्ध होते हैं। अब भोपाल को ही उदाहरणार्थ लिया जाये तो आप पायेंगे कि वहाँ पुरुष रंगकर्मीयों की संख्या तो भरपूर

है, पर महिला रंगकर्मीयों के इने-गिने नाम ही बार-बार सामने आते हैं।

निस्सन्देह, कम महिला पात्रों के चयन की समस्या नाटककार अथवा निर्देशक की उतनी नहीं, जितनी उन महिलाओं की है, जो नाटक में अभिनय को इच्छुक तो हैं, किन्तु हमारा सामाजिक पर्यावरण का दबाव उन्हें अपनी आकांक्षापूर्ति से वंचित कर देता है। अपने आत्मविश्वास के दम पर जो महिलाएँ रंगकर्म करती हैं, उनके रास्ते के अवरोध, कम नहीं हैं। रात्रि में देर तक होने वाली रिहर्सलें, अकेले घर लौटना, अपरिचितों के साथ बाहर की यात्रा, जैसी अनेक स्थितियाँ घर के लोगों को हजम करा पाना निस्सन्देह एक दुरूह कार्य है। ऐसा भी नहीं है कि ये शंकाएँ निर्मूल ही हों। फिर भी रंगकर्म का नशा ऐसा होता है कि कतिपय महिलाओं ने न केवल रंगकर्म की राह अपनाई, बल्कि इस राह पर चलते हुए अपने कदमों की गहरी छाप भी छोड़ी किन्तु इनमें से अधिकांश को पूर्व में वर्णित कारणों अथवा मजबूरियों ने रंगकर्म से विमुख कर दिया।

लम्बे समय तक निरन्तर रंगकर्म करने वाली कुछेक महिलाएँ निस्सन्देह अपवाद स्वरूप इस क्षेत्र में रही हैं। लेकिन जैसा कि मैं पूर्व में लिख चुका हूँ, ऐसा विशिष्ट कारणों से ही संभव हो सका है। महिलाओं के लिए पति अथवा परिवार के किसी सदस्य का रंगकर्मी होना सर्वाधिक उपयुक्त स्थिति है। इसके साथ परिवार के अन्य सदस्यों का सहयोग ही किसी गृहिणी रंगकर्मी के रंगकर्म की निरन्तरता के लिए आवश्यक होता है। रंगकर्म एक दुरूह कार्य है। कठोर परिश्रम, निष्ठा, समय एवं अत्याधिक धैर्य जैसे तत्वों के अलावा पारिवारिक वातावरण ही किसी व्यक्ति को रंगकर्म में बनाये रख सकता है और महिलाओं के लिए तो समुचित पारिवारिक वातावरण पुरुषों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण शर्त है। पति की नाराजी, सास-श्वसुर के तानों अथवा बच्चों के अविश्वास के रहते कोई महिला रंगकर्म नहीं कर सकती। ऐसा नहीं कि उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य महिलाएँ लगातार रंगकर्म में नहीं हैं। लेकिन ऐसी महिलाएँ बहुत कुछ त्याग कर ही रंगकर्म में निरन्तरता बनाए रख सकी हैं। घर-बार से दूर अविवाहित रह कर रंगकर्म का संकल्प लिए ऐसी महिलाएँ अन्ततः किस अनजान नियति की ओर अग्रसर हैं, वे स्वयं नहीं जानती। इनके अलावा वे महिलाएँ भी हैं, जो अपने रंगकर्म-प्रेम के कारण अपनी गृहस्थी की जिम्मेदारियों का परित्याग कर रंगकर्म कर रही हैं, लेकिन इसका खामियाजा उनका परिवार और वे स्वयं भुगत रही हैं। इन सब तथ्यों के बावजूद उन महिलाओं के आगे नतमस्तक होना चाहिए, जो रंगकर्म के क्षेत्र में लगातार सक्रिय हैं और संघर्षों के बाद भी इस कठिन कार्य में जुटी हुई हैं।

यह सच है कि हिन्दी रंगकर्म में आर्थिक रूप से रंगकर्मी को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। लेकिन नाटक जीवन को संवारने वाली सबसे बड़ी विधा है। शास्त्रों के अनुसार नाटक सारी कलाओं का समन्वय होने के कारण सर्वोत्कृष्ट कला माना जाता है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास हेतु नाटक की उपयोगिता की अनुभूति यह माँग करती है कि हम अपनी बेटियों के लिए ऐसी परिस्थितियाँ बनायें कि रंगकर्म करना उतना ही सहज हो, जितना पुरुषों के लिए होता है, ताकि रंगकर्म तो संवर सके ही, साथ ही वे लड़कियाँ भी अपना जीवन सफल, सौन्दर्यमय और सुखद बना सकें। ●



“जीवन के सारे ऋण उतारे नहीं जा सकते। कई ऋण ऐसे होते हैं कि जिन्हें मस्तक पर उठाकर ले चलने में ही जीवन की सार्थकता समाई होती है।” कृतज्ञता का यह ज्ञापन ‘राग रचनांजलि’ के पन्नों पर देखा जा सकता है। यशस्वी गायिका अश्विनी भिड़े देशपाण्डे ने इस पुस्तक में अपने पुरखों से मिली पूँजी को संजोया है जिसने लड़कपन से आज तक उनकी गायिकी का पोषण किया है। वे अपनी वैभवशाली परंपरा के ध्वजा धारियों जयपुर-अतरौली घराने के संस्थापक उस्ताद अल्लादिया खाँ, किशोरी अमोणकर और स्व. पं. मल्लिकार्जुन मंसूर को याद करती हैं। वे अपने गुरुओं स्व. पं. नारायणराव दातार, माणिक भिड़े और रत्नाकर पई के ऋणों के प्रति धन्यता का अनुभव करती हैं। ‘राग रचनांजलि’ में अश्विनी ने उन बेशुमार बंदिशों को स्वरलिपियों के साथ प्रस्तुत किया है जिन्हें कई पीढ़ियाँ महफिलों में गाती-गुनगुनाती रही हैं। एक शिष्य की ओर से अपने अग्रज संगीतकारों को यह विनम्र प्रणति है। -संपादक

बंदिश, राग का नक्शा होती है

बहुत पहले के जमाने से संगीत कला के साधक एक से एक बढ़कर अच्छी बंदिशों का संग्रह करते आ रहे हैं। आजकल के हम गायक जो बंदिशें सीखते और गाते हैं उनमें से कई पंदिशें कई सौ साल पुरानी हैं, और सदारंग-अदारंग जैसे पुराने जमाने के दिग्गज रचनाकारों की बंदिशें आज भी उतना ही तरो-ताजा हैं। आज भी संगीतकला का प्राथमिक विद्यार्थी इनको सीखता है, मूर्धन्य कलाकार भी इन्हें अपने गायन के प्रदर्शन हेतु उपयोग में लाते हैं तथा मूर्धन्य कलाकार भी इन्हें अपने गायन के प्रदर्शन हेतु उपयोग में लाते हैं। कहा जाता है कि सबसे पहली रचना प्रबंध की थी और कई शताब्दियों के पश्चात् खयाल का जन्म हुआ, जो अभी पिछली शताब्दी की बात है। लेकिन इन दोनों के बीच के कालखण्ड में संगीत रचना को कई संस्करणों से गुजरना पड़ा होगा। खयाल के जन्म के पश्चात् भी उसे बड़ा खयाल और छोटा खयाल इन दो सामान्य रूपों के अलावा अन्य कई रूप धारण करने पड़े- जैसे मध्यलय खयाल, तराना, चतरंग, त्रिवट, तुमखयाल, टपुखयाल, खयालनुमा इत्यादि। संगीतकला के विद्यार्थी होने के नाते हमने इस सभी को सीखते हुए अपना रास्ता तय किया है। इन्हीं के अभ्यास से हमें राग को संवारने का रास्ता दिखाई देता है, हमारी रागरूप की दिशा बनती जाती है। यही है राग के



अश्विनी भिड़े

स्वर्णलंकार, तथा इन्हीं की बंदोलत गायक कलाकार अधिकाधिक समृद्ध और संपन्न बनता जाता है।

कहते हैं बंदिश राग का नक्शा होती है, अर्थात् किस रस्ते से रागप्रवाह की धारा बहेगी इसका प्रमाण! लेकिन यह धारणा सामान्य रूप से मान्य है कि अलग-अलग बंदिशों में राग के अलग-अलग स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के असंख्य राग हैं मानो प्रकृति के सुंदर बगीचे, जिनमें कई तरह के फूल, पौधे, वृक्ष, लताएँ, कुंज, विहार, पुष्करिणियाँ और सौंदर्यस्थलों की लगन लगी रहती है। राग की बंदिशें मानो इन सौंदर्यस्थलों तक कलाकार और श्रोता दोनों को ले जाने वाली पगडंडियाँ हैं। कोई तो है छोटी सी पगडंडियाँ, कोई मार्ग, पथ या फिर शाही राजमार्ग! इन्हीं पर चलते-चलते हमें नजर आएंगे बगीचे के प्राकृतिक तथा मानव निर्मित नजारे! एक होनहार माली जो बगीचे की मरम्मत में कुछ अर्से से जुटा हुआ होता है, उसे इन सारे रास्तों का पता होता है। बिलकुल उसी तरह कलाकार साधक को राग के बगीचे में घूमने-फिरने के सभी मार्ग पता होते हैं, फिर भी भटकने का डर नहीं रहता। अपने साथ वह श्रोताओं को भी इस परिभ्रमण में संगी बनाकर घुमाकर लाता है, किसी दूसरे बगीचे में भटके बिना। इन सौंदर्यस्थलों की यात्रा जिन बंदिशों के बल पर हम करते

हैं वे या तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुरु से शिष्य को सिखाई गई पारंपरिक बंदिशें हैं, या फिर सर्वथा नवीन, समकालीन; जिन्हें बने हुए अभी सौ-पचास साल भी नहीं हुए और जिन्हें हस्तांतरित करते हुए गुरु-शिष्यों कई पीढ़ियाँ नहीं बीतीं।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के असंख्य राग हैं मानो प्रकृति के सुंदर बगीचे, जिनमें कई तरह के फूल, पौधे, वृक्ष, लताएँ, बुंज, विहार, पुष्करण्याँ और सौंदर्यस्थलों की लगन लगी रहती है। राग वनी बंदिशें मानो इन सौंदर्यस्थलों तक कलाकार और श्रोता दोनों को ले जाने वाली पगडंडियाँ हैं। कोई तो है छोटी सी पगडंडियाँ, कोई मार्ग, पथ या फिर शाही राजमार्ग! इन्हीं पर चलते-चलते हमें नजर आएंगे बगीचे के प्राकृतिक तथा मानव निर्मित नजारे! एक होनहार माली जो बगीचे वनी मरम्मत में कुछ अर्से से जुटा हुआ होता है, उसे इन सारे रास्तों का पता होता है।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की वैभवशाली मौखिक परंपरा के अनुसार जो बंदिशें गुरु से शिष्यों तक और फिर शिष्यों से उनके शिष्यों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रमित होती रहीं, अभी भी हो रही हैं, वे ही हैं पारंपरिक बंदिशें। इनमें से कई बंदिशें सौ-दो-सौ से भी अधिक साल पुरानी हैं जिनकी रचनाकारी का संबंध उन दिनों की मौजूदा ध्रुपद गायकी से जोड़ा जा सकता है, लेकिन फिर भी आज खयाल गायन में इनका स्थान अटल है। काल की कसौटी पर जाँची-परखी गई ये बंदिशें निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ हैं। ये ऐसी बंदिशें हैं जिन्होंने खयालगायन की बहती एवं बदलती धारा का अनेक वर्ष सामना किया और वे उसमें बह नहीं गईं। विस्मृति के पर्दे के पीछे लुप्त नहीं हो पाईं। इनमें अपनी मूलभूत रचनाकारी की जबरदस्त शक्ति समाई हुई थी, जिसके बल पर वे टिकी रहीं। गायक कलाकार बदलते रहें, उनकी गायनशैलियों में परिवर्तन आता रहा, इन बंदिशों का स्वरूप भी

काल की धारा में बहते-बहते बदल गया- निश्चय ही ये बंदिशों का स्वरूप भी काल की धारा में बहते-बहते बदल गया। निश्चय ही ये बंदिशें आज की तारीख में जिस तरह से गाई जा रही हैं वैसे रची नहीं गई थीं। निश्चय ही उनके प्रस्तुतीकरण में भी बदलाव आ गया। यही उनका बड़प्पन है, यही उनकी शक्ति है, यही उनका बलस्थान है। खयाल गायन की यात्रा के दौरान उसमें कई नई बंदिशें समाती गईं। हमारे बुजुर्गों ने अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के जरिए राग संगीत को अधिकाधिक समृद्ध किया। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के साधक की भूमिका में मैंने जिस तरह से पारंपरिक बंदिशों का आनंद उठाया, उसी तरह समकालीन रचनाकारों की बंदिशें कभी विधिवत् सीखीं, कभी औरों से सुनकर उनकी रचनाकारी का आनंद उठाया। लेकिन मैंने स्वयं बंदिशें क्यों कहीं? आज की घड़ी में मेरे संगी गायक कलाकारों में कई ऐसे भी हैं कि जो कहते हैं- 'इतनी अच्छी बंदिशें पहले से मौजूद हैं, अब और नया और अच्छा हम करके दिखाएँ भी तो क्या दिखाएँ?' हाँ, यह बात मुझे मंजूर है। बहुत सारी सुंदर-सुंदर बंदिशें अर्से से लोग गाते चले आ रहे हैं और उन सबका ब्यौरा देना किसी एक व्यक्ति के लिए मुमकिन नहीं है। इनको गाकर हम न सिर्फ अपनी आवश्यकता को पूरा करते हैं, बल्कि उनका आनंद भी भरपूर लूटते हैं। फिर और नई बंदिशों की क्या जरूरत? नई बंदिशें बनाकर क्या हमने कुछ नया कथन किया? कोई नया स्थान पाया जो उस राग में परम आनंददायी साबित हो सके? इन सवालियों का सरल सा उत्तर है कि 'नहीं'। हमने ऐसा कुछ नहीं कहा जो आज तक नहीं कहा गया हो।

खयालगायन की यात्रा के दौरान मुझे इस बात का अहसास बार-बार हुआ कि शायद जो बात मैंने आज कही, वही बहुत पहले किसी ने कह दी है। मेरी कोई बात, कोई कल्पना, कोई आकृति, कोई रचना संपूर्णतया नई नहीं है, किसी ने पहले ही बात बनाई है। फिर नई बंदिशें बनाने का प्रयास मैं क्यों किए जा रही हूँ? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर ढूँढने पर भी मुझे नहीं मिलता। हाँ, जिस तरह से कंठ संगीत मेरी अभिव्यक्ति का साधन है, उसी तरह शायद बंदिश कहना भी मेरी अभिव्यक्ति ही का साधन है। मेरे समकालीन संगीतकारों ने जब बंदिशें बनाई, तो उनका..... ●



मूर्धन्य संगीत मनीषी पं. लालमणि मिश्र के अनन्य शिष्य, प्रयोगधर्मी संगीतकार और संतूर वादक ओमप्रकाश चौरसिया की रचनात्मकता शास्त्रीय संगीत के आसपास ही सिमटी नहीं रही, उन्होंने वृन्दगान की दर्जनों रचनाएं तैयार की और नाटकों के लिए भी संगीत की धुनें रचने में एक मुद्दत तक रुचि दिखाई। दिलचस्प यह है कि रंग संगीत के लिए उनका आग्रह सिर्फ अलखनंदन द्वारा निर्देशित नाटकों तक ही सीमित रहा, लेकिन इसकी खास वजह उनके और अलखनंदन के बीच कायम रही सृजनात्मक आपसदारी है जिसमें सोचने और रचने के बीच अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का सदा सम्मान रहा है।



नाटक में संगीत को संवादी बनाने का हिमायती हूँ

रंग संगीत : संगीतकार ओमप्रकाश चौरसिया से विनय उपाध्याय की बातचीत

आप संगीत के एक दुर्लभ साज संतूर से गहरे जुड़े हैं। इसके समानान्तर रंगसंगीत के क्षेत्र में आपका झुकाव किस तरह हुआ?

- हाँ, मेरी पहचान एक सन्तूर वादक के रूप में सर्वत्र जानी जाती है किन्तु इसके समानान्तर हमने कई अन्य विधाओं में भी प्रयोग किए हैं क्योंकि जिन चीजों में मेरी रुचि है उनको मैंने किया और उससे से अच्छा लगता है। यह मेरे गुरुजी की भी शिक्षा थी और वे भी संगीत की अन्य विधाओं में पारंगत थे। बचपन से ही मुझे धुनें बनाने का शौक रहा है और जब वाराणसी में संगीत की शिक्षा ले रहा था तब धुनों को मंच पर प्रस्तुत करने का अधिक अवसर मिल सका जिससे मेरे गुरु ने मुझे प्रोत्साहित किया और इस क्षेत्र में आगे बढ़ता रहा। उन्हीं दिनों संगीत प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद मेरे पास कोई कार्य नहीं था। तब गुरुजी के साथ एक प्रोजेक्ट में काम करना शुरू किया। यह प्रोजेक्ट “सामगान और भक्ति संगीत का कलेक्शन” था जिसमें एक साल तक काम किया और इसके बाद गुरुजी विदेश चले गए। तब उन दिनों काम की गति रुक गई।

वाराणसी के पास डी.एल.डब्ल्यू. के कर्मचारियों का एक छोटा सा शहर है वहाँ वह अपने काम के अतिरिक्त सांस्कृतिक गतिविधियाँ करते रहे हैं। वहाँ के लोगों ने बादल सरकार का एक नाटक ‘अबू हसन’ उठाया। उनको एक ऐसे संगीतकार की तलाश थी जो उसका संगीत तैयार कर सके। मेरी वहीं काशी में रहने के कारण और यत्र-तत्र सन्तूर वादन, तबला वादन और गुरु के साथ मंच पर बैठने के कारण मेरी ख्याति फैल चुकी थी। कुछ लोगों को सुझाया कि इस नाटक के संगीत के लिए श्री चौरसिया से कहना चाहिए। दस प्रकार नाटक के निर्देशक श्री अग्रवाल ने मुझसे सम्पर्क किया। पहले तो मुझे थोड़ा अजीब सा लगा लेकिन फिर सोचा कि यदि अवसर मिला है तो करके देखना चाहिए। मैंने उनसे स्क्रिप्ट लेकर तीन-चार दिन तक उसे अच्छी तरह से पढ़ा और लगभग सात दिनों बाद मैंने उस नाटक में प्रयुक्त हुए सभी गीतों की धुनें बनायीं और पार्श्व संगीत भी लिखा। अपने सहयोगियों और वादकों को लेकर लगभग एक माह तक मैं नाटक की रिहर्सल में जाता था और उसे पूरा किया। नाटक के तीन शो हुए जो लगातार तीन दिन तक चले और तीनों शो में लोगों ने ‘अबू हसन’ के संगीत को अत्यधिक पसन्द किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि गीतों की धुनें शास्त्रीय रागों पर आधारित थी। गाने-बजाने वाले भी अच्छे, सधे कलाकार थे।

‘अबू हसन’ की इस सफलता में हमें ऐसा लगा कि हम भी नाटक में संगीत कर सकते हैं और दस तरह नाटक में संगीत देने की मेरी शुरुआत हुई। उसके बाद बादल सरकार के ही एक अन्य नाटक ‘पगला घोड़ा’ और एक अन्य नाटक ‘राजा हरिश्चन्द्र’ में भी बनारस में रहकर मैंने संगीत दिया।

**विख्यात रंगकर्मी अलखनंदन द्वारा निर्देशित कई नाटकों में आपने संगीत दिया।
शुरुआत में यह कैसे सम्भव हुआ? अलखनंदन के नाटकों से किस तरह जुड़े?**

- सन् 1978 में मैं अपना संगीत प्रशिक्षण समाप्त कर भोपाल आ चुका था और श्री अशोक वाजपेयी के निर्देशन में कला परिषद् की संगीत-नृत्य की गतिविधियों से जुड़ गया। 1980 के दशक में प्रख्यात रंगकर्मी स्वर्गीय श्री ब.व. कारन्त भारत भवन में आए। रंगमंडल की शुरुआत की और उनके द्वारा निर्देशित और संगीतबद्ध किये हुए नाटकों को देखकर मैं अत्यधिक अभिभूत हुआ। इन्हीं दिनों श्री अलखनन्दन भी जबलपुर से आकर भोपाल में बस गए। जबलपुर में रहते अलखनन्दन एक-दो बार अपने नाटक को लेकर भोपाल आए तब मैंने उनके नाटक देखे और उनके बारे में जाना। उन्होंने जो नाटक लिखे थे अधिकतर संगीत प्रधान होते थे और उनमें कॉमेडी भी होती थी।

जब वह भोपाल में बस गए और यहाँ उन्होंने नाटकों की शुरुआत की तो वह संभवतया हमारी प्रतिभा से परिचित हो गए होंगे इसलिए उन्होंने अपने नाटकों के लिए मुझे सम्पर्क और संगीत देने के लिए आग्रह किया। मैंने उनके एक दो छोटे नाटक लिए, कॉमेडी नाटक में उनके गीतों को स्वरबद्ध किया जो भोपाल के लोगों ने पसन्द किए। इससे उत्साहित होकर उन्होंने बड़े नाटक उठाए और उनके लिए भी उन्होंने मुझे ही संगीत देने की लिए कहा। न जाने क्यों मुझे ऐसा लगता था कि अलखनन्दन के साथ काम करना मुझे अच्छा लगता है क्योंकि मैंने उनसे पहले ही स्पष्ट कर दिया था, यदि नाटक में मैं संगीत करूँगा तो मेरा अनुशासन ही प्रबल होगा, उस समय न निर्देशक और न कोई उनका कलाकार बीच में बोलेगा। यदि आवश्यक हुआ तो निर्देशक अपनी राय अलग से मुझे दे सकते हैं और इसे अलख ने मान्य किया। दूसरी बात यह भी थी कि अलखनन्दन एक अच्छे कवि हैं और बुन्देलखण्ड के लिए समर्पित भी हैं। क्योंकि मैं भी बुन्देलखण्ड से हूँ इसलिए दोनों की रुचियाँ मिलने के कारण ही उनके साथ हमारा जुड़ना सम्भव हो पाया।

**अमरु का कुर्ता, सलोनी गौरैया, मुर्गा देशी बांग विदेशी, आगरा बाजार, चन्दा बेड़नी, कबिरा खड़ा बाजार में
और स्वांग शकुन्तला जिसकी रंगजगत में देशव्यापी चर्चा हुई है, इन नाटकों के परिवेश के बारे में बताएं?**

- मैंने अब तक अलखनन्दन के 9 नाटकों में संगीत की रचना की है जिनमें सबसे पहला नाटक 'अमरु का कुर्ता' था जो 1982 में प्रस्तुत किया गया। इसके बाद 1985 में 'चन्दा बेड़नी' और 'बाँझ घाटी', 1987 में 'सलोनी गौरैया' और 'आगरा बाजार', 1988 में 'मुर्गा देशी बांग विदेशी', 1997 में 'कबीरा खड़ा बाजार में', 1998 में 'राजा का स्वांग' और 2003 में 'स्वांग शकुन्दला'। इनमें से अधिकांश नाटक संगीत प्रधान हैं और व्यंग्यात्मक हास्य से भरपूर हैं। 'सलोनी गौरैया' एक चिड़िया की कहानी है जो बच्चों के लिए एक सीख है और 'बाँझ घाटी' भोपाल गैस त्रासदी पर केन्द्रित है। इन दोनों नाटकों को छोड़कर बाकी सभी नाटकों में व्यंग्य की शैली नजर आती है और उसी के अनुसार उनके गीतों को हमने स्वरबद्ध कर एक अमलीजामा पहनाने की कोशिश की जो मंचीय दृष्टि से अत्यंत सफल रहा।

**आपके संगीत संस्कारों और सरोकारों के लिए आप शिहत से मूर्धन्य संगीत मनीषी पण्डित लालमणि मिश्र के प्रति
सदैव आदर व्यक्त करते हैं। रंगसंगीत के क्षेत्र में आपकी सक्रियता के पीछे भी कोई गुरु या प्रेरणा रहे हैं?**

- वहाँ बनारस में 13 वर्ष तक रहकर गायन, तबला और सन्तूर वादन का प्रशिक्षण लिया और संगीत मनीषी गुरुवर पण्डित लालमणि मिश्र के साथ रहकर संगीत ही नहीं अपितु अनेक जीवन मूल्यों को सीखने का अवसर मिला। उन्हीं के आशीर्वाद से मुझे यह ख्याति अर्जित हो सकी है। रंग संगीत के क्षेत्र में सक्रियता के पीछे यदि मैं अपने ही गुरु का नाम लूँ तो अतिशयोक्ति न होगा क्योंकि जब भी मैंने कुछ करने की कोशिश की है बिना उनकी अनुमति के नहीं किया है और करने के बाद हमेशा मुझे उनका प्रोत्साहन मिला है। बनारस मैं उनकी ही अनुमति से छोड़कर आया था अन्यथा इस समय कहीं होता, क्या कर रहा होता, कुछ कहा नहीं जा सकता।



अलखनंदन द्वारा निर्देशित
नाटक का एक दृश्य

संगीतकार को सबसे पहले नाटक की स्क्रिप्ट को पूरी तरह समझना चाहिए, उसके भावों को समझना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब वह नाटक के निर्देशक के साथ ताल-मेल बैठाने में सक्षम है। रंग संगीत को दो वर्गों का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए - एक तो नाटक में प्रयुक्त होने वाले गीतों को उसके भावों के अनुरूप स्वरबद्ध करना और दूसरे नाटक के संवादों को देखते हुए उन संवादों के भावों को संगीत वाद्यों की मदद से भी उभारना।

आपकी दृष्टि में रंग संगीतज्ञ के मुख्य रचनात्मक उत्तरदायित्व या चिन्ताएँ क्या हों?

- मेरी दृष्टि में हिन्दी नाटकों में रंग संगीतकार बहुत कम देखने में आते हैं। वैसे भी हिन्दी नाटकों में एक सीमित क्षेत्र है जिस तरह मराठी नाटक या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के नाटकों का एक व्यापक क्षेत्र है उस तरह हिन्दी नाटकों का प्रचार-प्रसार अपेक्षाकृत कम है। फिर भी बीसवीं सदी में हिन्दी नाटकों की बहुतायत देखने को मिली। हिन्दी नाटकों में रंग संगीत को प्रधानता बहुत कम देखी है क्योंकि नाटक का वर्गीकरण कर दिया गया है जिससे अधिकांश नाटकों में संगीत की जरूरत ही नहीं पड़ती है। विख्यात रंगकर्मी श्री हबीब तनवीर और श्री ब.व. कारन्त जैसी हस्तियों ने अपने नाटकों में खुद संगीत देकर एक नया आयाम प्रस्तुत किया है क्योंकि वे केवल नाटककार नहीं हैं बल्कि इन्होंने नाटक की सभी विधाओं का अध्ययन कर उसे गहराई तक समझने की कोशिश की है। इसलिए विशेष रूप से कारन्त जी के नाटकों का विभिन्न प्रकार का संगीत और श्री हबीब दनवीर के नाटकों का लोक संगीत पर आधारित संगीत अत्यधिक प्रचलित हुआ।

मुझे ऐसा लगता है कि नाटक के संगीत विशेषज्ञ बनने की किसी ने कोशिश ही नहीं की और मेरा मतलब उनसे है जो केवल रंग संगीतज्ञ हैं। यदि संगीतज्ञ कोई हो तो उसे नाटक की स्क्रिप्ट को पूरी तरह समझना चाहिए, उसके भावों को समझना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब वह नाटक के निर्देशक के साथ ताल-मेल बैठाने में सक्षम है। मेरी दृष्टि में रंग संगीत को दो वर्गों का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए - एक तो नाटक में प्रयुक्त होने वाले गीतों को उसके भावों के अनुरूप स्वरबद्ध करना और दूसरे नाटक के संवादों को देखते हुए उन संवादों के भावों को संगीत वाद्यों की मदद से उभारना। यदि इन दो चीजों को रंग संगीतज्ञ अच्छी तरह समझ लेता है तो वह नाटक अत्यधिक प्रभावशाली होता है।

किसी भी नाटक में संगीत का लोकप्रिय होना ज्यादा जरूरी है या सम्प्रेषणीय होना?

-मेरी निगाह में नाटक में संगीत का सम्प्रेषणीय होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि जब तक सम्प्रेषणीय नहीं होगा तब तक वह लोकप्रिय नहीं हो सकता।

**भारतीय रंग जगत, रंगसंगीत के मामले में प्रख्यात रंगकर्मी स्वर्गीय ब.व. कारन्त के कालजयी प्रभाव से सम्पृक्त है।
आपका क्या विचार है?**

- यह सही है कि भारतीय रंग जगत, रंग संगीत प्रख्यात रंगकर्मी ब.व. कारन्त के कालजयी प्रभाव से अत्यन्त ओतप्रोत है और उन्होंने जिस तरह से अपने नाटकों में संगीत की रचना की उसके पीछे उनका अत्यंत चिंतन-मनन भी शामिल है यदि मैं यह कहूँ कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप में भी उनके संगीत से प्रभावित रहा है।

**वर्तमान में आप ऐसे किन्हीं रंग-संगीतकार का जिक्र करना चाहेंगे जिनके काम से आप प्रभावित हैं
या जिनका काम आपको आकृष्ट करता रहा है?**

- वर्तमान समय में ऐसे किसी विशेष रंग संगीतकार का खासकर हिन्दी नाटकों में मुझे ध्यान नहीं आता है क्योंकि इस पर मैंने ज्यादा ध्यान नहीं दिया। दिल्ली में श्री मोहन उत्प्रेती और श्री पंचानन पाठक के नाम आदर से लिये जा सकते हैं लेकिन वह अब नहीं रहे। यदि भोपाल में ही यह मध्यप्रदेश में कहें तो कुछ युवा रंग संगीतकार अवश्य हैं जो इस क्षेत्र में अपना कार्य शिदत से कर रहे हैं। इनमें श्री बंसीकौल के साथ उनके नाटकों में श्रीमती अंजना पुरी और कुछ हद तक श्री आमोद भट्ट श्री उमेश तरकसवार कार्य कर रहे हैं। किन्तु यह केवल नाटकों के लिए समर्पित नहीं हैं।

आप स्वभाव से एक गम्भीर, शिष्ट और अत्यन्त मर्यादित कलाकार हैं। किसी भी नाटक की संगीत रचना करते हुए उस नाटक में निहित प्रभावों, प्रसंगों और संवादों में अभिव्यक्तियाँ अनेक बार गम्भीरता, शिष्टता और मर्यादा की सीमा का अतिरेक करती है। ऐसे में आप अपना तालमेल कैसे बैठाने हैं?

- नाटकों की संगीत रचना करने में हमें निश्चय ही अपनी गम्भीरता, शास्त्रीयता और मर्यादा की सीमा का अतिरेक करना पड़ता है और तभी वह सफल भी होता है। मुझे लगता है कि रंग संगीतकार भले ही वह शास्त्रीय संगीतज्ञ हो उसे अपनी शास्त्रीयता एक कोने में रखनी पड़ती है क्योंकि भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार यदि नाटकों में शास्त्रीयता रखी जाएगी तो नाटक के प्रभाव उत्पन्न करने में कठिनाई पैदा होती है। शास्त्रीय संगीत का ज्ञान अगर उसका आधार बनाकर नाटक के देशकाल को देखते हुए नाटक के प्रभाव को उत्पन्न करने

में सहायक संगीत की रचना ही करना श्रेयस्कर होता है।

‘स्वांग शकुन्तला’ के संगीत में आपकी क्या दृष्टि रही है?

- ‘स्वांग शकुन्तला’ नाटक अलखनन्दन ने स्वयं लिखा, उसे निर्देशित किया और उसके गीत भी लिखे। अतएव उन्होंने स्क्रिप्ट के अनुसार इस पेरोडी कॉमेडी के लिए जो गीत लिखे उसे के अनुसार उनकी धुनें बनायी गई और सिचुएशन के अनुसार कुछ परम्परागत केवल धुनों का इस्तेमाल किया गया और कीर्तन-भजन का उपयोग किया गया। यह पहली बार ऐसा हुआ है कि किसी क्लासिक नाटक की पेरोडी बनाकर कोई नाटक मंचित किया गया है। ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ विश्व के श्रेष्ठ 10 नाटकों में शुमार होता है और अलख ने इस नाटक की पेरोडी बनाकर इसके माध्यम से आज के समाज की स्थिति का जो माखौल उड़ाया है वह काबिल-ए-तारीफ तो है ही साथ-ही-साथ साधकों के लिए एक जाना-पहचाना मनोरंजन भी है और हमें लगता है कि इसी कारण से इसका प्रचार पूरे देश में बिजली की तरह फैला है।

अलखनन्दन की निर्देशकीय दृष्टि के बारे में, उनके नाटकों में संगीत को लेकर उनकी जरूरतों के बारे में आप क्या कहेंगे?

- श्री अलखनन्दन की निर्देशकीय दृष्टि बहुत पैनी है। वे अमेच्योर आर्टिस्ट से भी इस तरह काम करवा लेते हैं कि मानो वह अत्यंत अनुभवी कलाकार है। उनके नाटकों में संगीत के विषय में उनकी राय अत्यंत स्पष्ट होती है। वे जो भी चाहते हैं और जिस तरह से चाहते यदि वह होता है तो उन्हें प्रसन्नता होती है और उनकी इन अपेक्षाओं की पूर्ति करने में मैं लगभग सक्षम रहा।

आपकी दृष्टि में हिन्दी नाटकों की स्थिति और उसमें संगीत की बराबर की भागीदारी की क्या संभावनाएँ हैं?

- यह विडंबना की बात है कि आज भी हिन्दी नाटकों में संगीत की बराबर की भागीदारी बहुत कम देखने को मिलती है क्योंकि सारे हिन्दी नाटक संगीत प्रधान नहीं होते और जिनमें संगीत प्रधान नहीं होता उनमें निर्देशक संगीत की जरूरत नहीं समझता। ऐसी स्थिति में उनके शर्त के अनुसार संगीत की बराबर की हिस्सेदारी सम्भव नहीं लगती। मेरी दृष्टि में चाहें वह कैसा भी नाटक हो, यदि उस नाटक में संगीत नहीं है तो उसका प्रभाव निर्जीव लगता है। अतएव नाटकों में संगीत की बराबर की भागीदारी होनी चाहिए तभी हिन्दी नाटक अन्य भाषाई नाटकों की तरह प्रसिद्धि पा सकेंगे।

देने में ही छिपे हैं पाने के सूत्र

रंगकर्मी दिनेश ठाकुर ने वसंत सकरगाए से कहा

रंगमंच आज एक बड़ी दुविधा में है। त्वरित प्रशंसा की गरज में जैसे हिन्दी वाले हिन्दी का नुकसान करने में आमादा हैं उसी तर्ज़ पर अधिकचरे रंगकर्मीयों की एक बड़ी जमात हिन्दी रंगमंच को क्षति पहुंचाने से बाज नहीं आ रही है। हद यह है कि अंधी ज़िद की रूखी ज़मीन पर सुझाव के किसी विनम्र बीज को पनपने का अवसर ही नहीं मिलता।

अभिनय की चवालीस साला यात्रा में कदम-दर-कदम सोच-समझकर चलने वाले रंगमंच व सिनेमा के स्थापित अदाकार दिनेश ठाकुर जब यह उलाहना देते हैं तो उनकी आँखों में रंगमंच के कई रंग कौंधते हैं। फिर कहते हैं- ‘कुछ सोचकर कोई काम बना भर लेने से पेशेवर नहीं हो सकता। पेशा गुणवत्ता के अनेक आग्रहों की कसौटी माँगता है, जो शौकिया तौर पर भी अपनी खुशबू का लगातार विस्तार करते हुए जनमानस में अहम हो सकता है। कई मर्तबा स्थिति इसके उलट होती है। समर्पण के बावजूद हमारा कर्म रौनकदार नहीं हो पाता।

1964 में ओमपुरी निर्देशित नाटक ‘आधे-अधूरे’ के जरिए अभिनय की दुनिया में पहला कदम रखने वाले दिनेश को मलाल यह है कि मृत अभिनय (सिनेमा) को देखने के लिए महँगे से महँगे टिकट खरीदे जाते हैं लेकिन जीवंत अभिनय (नाटक) के लिए लोगों की अंटी ढीली नहीं होती। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि जब तक नाटक की टिकट सिनेमा से ज्यादा नहीं होगी रंगमंच के पेशेवर स्वरूप की कल्पना करना भी बेमानी है। दिनेश यँ तो रंगमंच की मौजूद सक्रियता से संतुष्ट हैं और यह भी मानते हैं कि नाटक के जरिए समाज को शिक्षित करना बहुत जरूरी है। लेकिन वे इस विचार से कतराते हैं कि नाटक के माध्यम से कोई बड़ी क्रांति हो सकती है। वे उन नाट्य समीक्षकों को भी आड़े हाथों लेते हैं जो रंगमंच का ककहरा जाने बिना अपनी राय गढ़ने लगते हैं। वे सवाल उठाते हैं कि रंगमंच से अनभिज्ञ ऐसे लेखकों को भला क्या हक बनता है कि नाटक के महीने भर के अभ्यास पर जरा में पानी फेर दें? नाटक की शिकायत करने वाले तो बहुत सारे हैं पर नाटक को बढ़ावा देने वाले कितने हैं?

रंगमंच से खुद के रुहानी रिश्ते को लेकर ठाकुर फरमाते हैं- मेरे लिए रंगमंच प्रेम की तरह है, जहाँ सिर्फ देना ही देना है और इस देने में ही पाने के सूत्र छिपे होते हैं। हमेशा कोशिश यही रही कि रंगमंच सम्मानित जीवन यापन का माध्यम बने।

बासु भट्टाचार्य के निर्देशन में 1970 में बनी फिल्म ‘अनुभव’ से रुपहले पर्दे पर अभिनय की दस्तक देने वाले दिनेश धर्मेंद्र, विनोद खन्ना और डैनी अभिनीत सुपरहिट फिल्म ‘द बर्निंग ट्रेन’ के गार्ड की भूमिका के लिए भी याद किया जाता है। रजनी गंधा, मीरा और सामने उनकी अन्य चर्चित फिल्में हैं। तो विनोद मेहरा, रेखा अभिनीत फिल्म ‘घर’ सहित उन्होंने कुछ दीगर फिल्मों की पटकथाएँ भी लिखी हैं।

मुद्रा राक्षस की स्क्रिप्ट पर 1982 में उनके द्वारा निर्देशित नाटक ‘आला अफसर’ नौटंकी शैली की हल्की ही सही परन्तु नयनाभिनय छवि के कारण काफी चर्चित रहा।



केरल की सांस्कृतिक राजधानी तृशूर में द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय नाटकोत्सव सम्पन्न हुआ। केरल संगीत नाटक अकादमी ने पिछले वर्ष की सफलता से प्रेरणा पाकर इस वर्ष उत्सव का आयोजन किया। 'इटफोक २००८' एशियाई थियटर पर केंद्रित था जिसमें चीन, ईरान, श्रीलंका, पाकिस्तान और भारत की दस प्रस्तुतियाँ मंचित हुईं। 'इटफोक २००९' अफ्रो-एशियाई थियटर पर केंद्रित था। मुख्य मंच पर दक्षिण अफ्रीका, केनिया, पाकिस्तान और भारत के नाटक खेले गए।

मलयाळम के विख्यात रंगकर्मी एवं फिल्म अभिनेता भारत मुरळी, जो केरल संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष एवं 'इटफोक २००८' के अध्यक्ष थे, की स्मृति को समर्पित था समारोह। विख्यात अभिनेता एवं निर्देशक नसरुद्दीन शाह ने इस जलसे का उद्घाटन किया। उन्होंने कहा कि 'थियटर मेरा धर्म है और रंगमंच मेरे लिए पवित्र स्थान है। समारोह में उपस्थित दर्शकों को देखकर उन्होंने कहा कि 'नाटक के प्रति यह उत्सुकता अत्यंत प्रेरणाजनक है। नई दिल्ली में मैंने थिएटर का अध्ययन किया था। वहाँ फिल्मोत्सव में बड़ी भीड़ होती है क्योंकि वहाँ सेंसर रहित फिल्म दिखाई जाती है। किन्तु थियटर में ऐसा नहीं। केरल में नाटक के लिए बड़ी तादाद में दर्शकों को पाकर मैं अत्यधिक खुश हूँ।' केरल राज्य के शिक्षा एवं सांस्कृतिक कार्य मंत्री एम.ए. बेबी ने भी संबोधित किया।

नाटकोत्सव को बहुआयामी रूप देने के प्रयास स्वरूप अफ्रो-एशियाई थिएटर पनोरमा, मलयाळम थियटर पनोरमा, रंगकर्मियों से भेंट, संगोष्ठियाँ, थियटर इतिहास पर प्रकाश डालने वाली प्रदर्शनी, केरल की लोक कलाओं पर प्रदर्शनी, लोक संगीत एवं लोक कलाओं की प्रस्तुति आदि नाटकोत्सव के मुख्य आकर्षण रहे।

'भरत मुरळी ओपन एयर थियटर' में उद्घाटन नाटक था

नसरुद्दीन शाह द्वारा निर्देशित 'दि कैन म्युटिनी कॉर्ट मार्शल'। हेरमन बूक के 'कैन म्युटिनी' उपन्यास पर आधारित नाटक मुंबई के मोटली थियटर ने मंच पर प्रस्तुत किया। युद्ध के मनोविज्ञान का उद्घाटन इस यथार्थपूर्ण नाटक की खूबी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका में उठाये गये अप्रिय प्रश्न ईराक पर अमरीकी आक्रमण के बाद ज्यादा प्रासंगिक हो गए हैं। नाटक में गीत और संगीत नहीं थे। नाटक संबंधी हमारी परिकल्पना में जितनी चीजें हैं उन सबका इस नाटक में अभाव है। प्रॉपर्टी, कॉस्ट्यूम, सेट डिजाइन आदि का सीमित प्रयोग हुआ है। किन्तु नाटक में अभिनय केन्द्रीय शक्ति है।

समारोह का यादगार नाटक था दक्षिण अफ्रीका का 'एवरी डेयर, एवरी डे आइम वॉकिंग'। मार्क फलीशमैन द्वारा निर्देशित यह नाटक दर्शकों के लिए विशेष अनुभव बना। नाटककार ने अफ्रीकी भाषाओं के स्थान पर संप्रेषण के लिए शारीरिक भाषा का प्रयोग किया जो थियटर की प्राथमिक भाषा है। अपनी शरणार्थी स्थिति से बच निकलने का एक औरत और उसकी माँ का संघर्ष नाटक का कथ्य है। शरणार्थी समस्या दूसरे देशों की अपेक्षा दक्षिण अफ्रीका में सबसे ज्यादा है। नाटक में लिखित संवाद कम है। अंग्रेजी, फ्रेंच, स्वाहिली और अफ्रीकी भाषाओं का सीमित प्रयोग हुआ है। नियो मुयान्डा द्वारा सीधा प्रस्तुत संगीत अभिनय को उत्तुंग शिखर पर पहुंचाने वाला था। नाटक में मौन का भी जबरदस्त प्रयोग किया गया है। रंग-सज्जा आकर्षक है।

शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' नाटक का व्यांग्यात्मक अनुकूलन था दक्षिण अफ्रीकी नाटक 'मैकबेकी'। राजनीतिक दौंव-पेंच को हँसी-मजाक के साथ प्रस्तुत करने वाला नाटक भूमंडलीकृत दुनिया की राजनीति के बारे में सोचने को मजबूर करता है। निर्देशन भी फलीशमैन ने किया है।

नये तेवरों का जश्न

● डॉ. वी.जी. गोपालकृष्णन

‘सहान्ते मकन’ (सह्य पहाड़ का पुत्र) रंगमंच के लिए एक नया अनुभव बना। मलयाळम ने महाकवि वळ्ळतोळ् श्रीधर मेनन ने काव्य पर आधारित था यह नाटक। एक हाथी के जीवन के विभिन्न पहलुओं को हृदयस्पर्शी ढंग से इसमें प्रस्तुत किया गया है। केरल के त्यौहारों का एक अभिन्न अंग है हाथी। एक त्यौहार के बीच हाथी का बिगड़ना, उसके पराक्रम, नशीली गोली से उसे नियंत्रण में लाना और उसका दारुण अंत आदि नाटक का कथ्य है। हाथी के विभिन्न भावों में जापानी अभिनेत्री मिकारी ने जो क्षमता दिखाई वह प्रशंसनीय है। केरल के ‘रूट्स एन्ट विंग्स’ द्वारा मंचित नाटक के निर्देशक थे शंकर वैकिटेश्वरन।



घटनाओं को प्रस्तुत करने वाला मलयाळम नाटक था। बाल लीलाओं से शुरू होकर यौवनकालीन जीवन के छोटे-छोटे मनमुटाव एवं प्रेम के कई मार्मिक क्षण उभारे गये हैं। लोक गीतों एवं लोक वाद्य यंत्रों के जरिए नाटक को संवेदनशील बनाया गया है। निर्देशक सुरजीत एवं अभिनेता कनि एवं प्रजीश ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

दीपन शिवरामन का निर्देशित ‘स्पाइनल कॉर्ड’ ग्राब्रीयल गार्शिया मार्केज के उपन्यास ‘क्रॉनिकल ऑफ

ए डेथ फॉर-टोल्ड’ का मलयाळम रूपान्तर नाटक था। नाटक मुख्यतः एक हत्या की कथा कहता है। शादी की पहली रात में अपनी पत्नी को कन्या न पाकर वर वधू का तिरस्कार करता है। अपना घर लौटकर लड़की अपने प्रेमी के बारे में बताने को मजबूर हो जाती है। उसका प्रेमी उसके भाइयों का अच्छा दोस्त था। भाई अपने प्रिय मित्र की हत्या करता है।

केनिया के दि थियटर कम्पनी द्वारा प्रस्तुत ‘गिथा’ गली के जीवन से साक्षात्कार करता है। कीथ पीयर्सन के निर्देशित नाटक में शेनड, अंग्रेजी, स्वाहिली भाषाओं का प्रयोग किया गया है। केनिया के वर्तमान शहरीय जीवन को उसके मिथकीय एवं अतीत ग्रामीण यथार्थ के साथ दृश्यांकित किया गया है। प्रस्तुति में इतनी स्वाभाविकता है कि यह शंका उपस्थित हो जाती है कि क्या नाटक का अपना कोई लिखित संवाद है। प्रकृति के सर्वनाश के परिणामों पर प्रकाश डालने वाला केनिया का नाटक था कीथ पीयर्सन का ‘सौथी किम्या’ विकास के नाम पर पारिस्थितिक संतुलन को बिगाड़ने पर एक तीखी प्रतिक्रिया है यह नाटक। प्रकृति के जैसे ही गीत, नृत्य, कविता और नाटक से मिश्रित ‘सौथी किम्या’ नाटक आँखों और कानों के लिए एक दावत था।

उत्सव का अंतिम नाटक रतन थियम का मणिपुरी नाटक ‘वेन वी डेड एवेकन’। इस नाटक ने एक नया दृश्यानुभव प्रदान किया। नदी में नाव चलती रही। तालाब में मछलियाँ तैरती रहीं। फूल खिलते रहे। अभिनेताओं की गतियों, उपयुक्त सामग्रियों के प्रयोग एवं रोशनी के सफल नियंत्रण से ही मंच को इस प्रकार सक्रिय बनाया गया था। एक कलाकार की अहं की अभिव्यक्ति इसका कथ्य है। थियम ने यथार्थपरक नाटक की विस्मयकारी प्रस्तुति दी है। इस समागम से नाटक के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप को जानने-समझने का अवसर मिला। हर देश के नाटक की अपनी खासियत है। नाटक अपनी मिट्टी से जन्म लेता है, किन्तु नाटक में जो समस्याएँ और मुद्दे उभर कर आ जाते हैं वे देशातीत हैं। मनुष्य जीवन के तीखे यथार्थों को संवाद योग्य बनाने की उत्तम कला के रूप में, भाषा से परे होकर संवेदनशीलता एवं संप्रेषणीय क्षमता रखने वाले नाटक का अपना महत्व है। आयोजकों ने अगले नाटकोत्सव को लाटिन अमरीका केंद्रित घोषित किया है।

‘आयुस्सिन्टे पुस्तकम्’ (जीवन की पुस्तक) सुवीरन द्वारा निर्देशित मलयाळम नाटक था। सी.वी. बालकृष्णन के इसी शीर्षक के उपन्यास पर आधारित प्रस्तुत नाटक में तीन पीढ़ियों के जरिए पाप और यौन-संबंधों को परखने का प्रयास है। एक पातिरी प्रेम में फँस जाता है और एक विधवा भी अपनी वासना में डूब जाती है। दृश्य-सज्जा, रोशनी एवं रंग का सफल प्रयोग किया गया है। केरल के पय्यन्नूर रविवर्मा कला निलयम ने यह नाटक प्रस्तुत किया था। धार्मिक कट्टरपंथिता पर जबरदस्त व्यंग्य करने वाला नाटक था पाकिस्तान के अजोका थियटर का ‘होटल मोहनजोदड़ो’। पाकिस्तान के इस्लामीकरण और अरबीकरण, मुल्ला शासन तथा सत्ता प्रायोजित आतंक के संदर्भ में मंच के पिछले भाग में मल्टीमीडिया द्वारा दृश्य प्रस्तुति, संगीत और नृत्य का समायोजन तथा कहानीकार अब्बास द्वारा कहानी के अंशों का वाचन आदि प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, किन्तु नाटक आस्वादन में ये अक्सर बाधा पहुंचाते हैं। तथापि सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व रखने वाले पाकिस्तानी नाटक का भारत में मंचन करना महत्वपूर्ण है।

मुख्य मंच के अतिरिक्त दूसरे मंच पर रोज मलयाळम नाटकों का मंचन होता रहा। ये नाटक भी अपनी प्रयोगधर्मिता एवं कथ्य की दृष्टि से उल्लेखनीय रहे। केरल के नाटक क्षेत्र को एक नयी ऊर्जा प्रदान करने में ये मंचन सक्षम रहे। देश-विदेश से आये नाटककारों से संवाद करने का जो अवसर नाटकधर्मियों को मिला वह भी विशेष रूप से स्मरणीय है।

नदीम का दूसरा नाटक ‘बुरखावगनजा’ बुरखे के मुद्दे को उठाता है। पाकिस्तान में मार्च 2007 को इस नाटक पर रोक लगा दिया गया था। अभिनया थियटर्स, तिवुवनंतपुरम् द्वारा मंचित ‘पच्चा’ (हरा) मनुष्य जीवन के सभी चरणों पर घटित होने वाली

समापन समारोह के मुख्य अतिथि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व अध्यक्ष रतन थियम ने कहा कि सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्य करना आज चुनौतीपूर्ण बनता जा रहा है। परंपरागत कलाएँ नष्ट होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में नाटकोत्सव का आयोजन सरल कार्य नहीं है। आलोचक सुकुमार अषीक्कोट, नाटकोत्सव के निदेशक अभिलाष पिळ्ळे, संगीत नाटक अकादमी के सचिव प्रभाकरन पषशी, अकादमी के अध्यक्ष के.एम. राघवन नम्बियार ने भी शिरकत की।

असम का मोबाइल थिएटर एक अजूबा है जिसे विशाल मैदान में हजारों की तादाद में दर्शक देखते हैं। इसकी अर्थव्यवस्था लाखों की नहीं करोड़ों की होती है। पिछले दिनों इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र परिसर में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने ऐसी ही एक कंपनी कोहिनूर थिएटर के तीन नाटकों का एक समारोह आयोजित किया। हिन्दी दर्शकों के लिए इस तरह के रंगमंच को देखने का यह संभवतया पहला अवसर था।



मोबाइल थिएटर

• अजित राय

मोबाइल थिएटर में खुले मैदान में एक विशाल मंच बनाया जाता है जिस पर चार-पांच प्रदर्शन स्थल या सेट एक साथ बनाए जाते हैं। सामने एक घेरे में करीब पांच दर्जन संगीतकार बैठते हैं। एक सेट पर दृश्य जैसे ही खत्म होता है, तुरंत दूसरे या तीसरे सेट पर अगला दृश्य चालू हो जाता है। उधर गजब की फुर्ती से पहले सेट को बदल दिया जाता है। इसमें वीडियो इंस्टालेशन का खुलकर प्रयोग होता है। प्रकाश और ध्वनि की सहायता से मंच पर चमत्कार पैदा करने की कोशिश की जाती है। दर्शक सिनेमा की तरह बंदूकबाजी, तलवारबाजी, हाथी-घोड़े, जंगल, नदी, नाव, कैबरे और डांस बार आदि को साक्षात् देखते हैं। संवादों का सशक्त 'मेलोड्रामा', गजब का 'टाइम सेंस' और हास्य का तड़का दर्शकों को बांधे रखता है।

यह मोबाइल थिएटर साल में सात महीने लगातार चलता है और बारिश के पांच महीने बंद रहता है। कंपनी अपने सैकड़ों कलाकारों, संगीतकारों, डिजाइनरों और नेपथ्य कर्मियों के साथ एकमुश्त सात महीने के लिए अनुबंध करती है। बताते हैं कि कई लोकप्रिय अभिनेता-अभिनेत्री की कमाई सात महीने में सात से तेरह लाख रुपए तक होती है जो भारतीय रंगमंच में और कहीं संभव नहीं है। असमिया फिल्मों के सुपर स्टार जतिन बोरा को एक फिल्म के लिए केवल एक लाख रुपए मिलते हैं जबकि उन्हें कोहिनूर थिएटर कंपनी ने चालीस लाख रुपए में अनुबंधित किया है। सीमा बिस्वास को 'बैंडिट क्वीन' में जितना पैसा मिला उसका कई गुना इसे नाटक में बदलकर उन्होंने कमाया। आयोजकों को भी महज चार रातों में

दो लाख की कमाई होती है। ऐसे नाटकों में असमी लोक आख्यान, साहित्यिक आलेख, शेक्सपीयर के ड्रामे से लेकर आधुनिक 'टाइटेनिक' तक खेले जाते हैं।

1963 से अब तक लगभग 109 मोबाइल थिएटर कंपनियां असम में सक्रिय रही हैं। अच्युत लाहाकार ने दो अक्टूबर 1963 को पारंपरिक नाट्य शास्त्र के साथ आधुनिक प्रौद्योगिकी और मंच-सज्जा को मिलाकर असम में मोबाइल थिएटर का पहला प्रदर्शन किया था। दिल्ली में जिन तीन नाटकों का प्रदर्शन हुआ और जिसे हजारों लोगों ने देखा उसे 'कोहिनूर थिएटर' के संस्थापक (1976) रतन लाहाकार ने प्रस्तुत किया है।

दिल्ली में मोबाइल थिएटर उत्सव में जिन तीन नाटकों का मंचन हुआ उनमें सबसे प्रभावशाली पहला नाटक असीमित जार हेराल सीमा (लॉस्ट इन इनफिनिटी), कंचन बरुआ के इसी नाम से प्रकाशित लोकप्रिय उपन्यास पर आधारित है। इसमें कहानी के भीतर कई कहानियां चलती रहती हैं। पटकथा और निर्देशन हेमंत दत्ता का है।

दूसरा नाटक 'ओ मोइ मुन्नाइ कोइसु' (यस, आई मुन्ना स्पीकिंग) मुंबईया फिल्मों की तर्ज पर एक गैराज मजदूर के अपराध जगत का डॉन बनने की कथा है जिसमें गांधीवादी और हिंसा के विमर्श का मुलम्मा चढ़ाया गया है। इसके लेखक निर्देशक अभिजीत भषचार्य है। सेवब्रत बरुआ लिखित और राजेश भूयान निर्देशित तीसरा नाटक शीतारे सेमेका राती (आन ए कोल्ड विंटर नाइट) भी एक ड्रग माफिया की कहानी है।

सृजन के आसपास

हौसलों और उम्मीदों के गीत

‘आईसेक्ट’ ने जारी की
कवि विनोद तिवारी के गीतों की
संगीतमय ऑडियो सीडी

भोपाल। “जिसको सदियों तक ज़माना, झूमकर दोहराएगा, जिंदगी के नाम ऐसा गीत लिख जाएंगे हम...”। हौसलों और उम्मीदों का पैगाम देता मशहूर कवि-गज़लकार विनोद तिवारी का यह नगमा जब संगीत के सुर-ताल का तानाबाना लिए गूँजा तो माहौल में कविता की खुशबूदार रंगतें बिखर गईं। श्री तिवारी के ऐसे ही कुछ गीतों को आईसेक्ट स्टुडियो ने मुकम्मल धुनों से सजाकर ऑडियो अलबम “कुछ गीत जिंदगी के नाम” की शकल में जारी किया। **वनमाली सृजन पीठ** के अरेरा कॉलोनी स्थित अध्ययन केन्द्र में आयोजित इस गरिमामय समारोह में डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय के कुलाधिपति तथा प्रसिद्ध कथाकार-कवि श्री संतोष चौबे, वरिष्ठ आलोचक प्रो. कमला प्रसाद, कवि नाटककार राजेश जोशी, समीक्षक रामप्रकाश त्रिपाठी, कहानीकार मुकेश वर्मा विशेष रूप से उपस्थित थे। अलबम के संगीतकार श्री संतोष कौशिक तथा संगीत संयोजक श्री राजू राव हैं। निर्माण में सहयोग श्री प्रशांत सोनी, आशीष पोतदार का है।



कुछ गीत जिंदगी के नाम... सीडी अलबम के कवि विनोद तिवारी के साथ आईसेक्ट के महानिदेशक संतोष चौबे, संगीतकार संतोष कौशिक, रिकार्डिस्ट आशीष पोतदार, गायिका संदीपा पारे तथा उद्घोषक विनय उपाध्याय



इस अवसर पर श्री विनोद तिवारी ने कहा कि संगीत के साथ मिलकर कविता का पुनर्जन्म होता है। रचना की सम्प्रेषणीयता संगीत के बाजार जब भावहीन शब्द को बेचकर मुनाफे की होड़ लगी है तब हिन्दी की प्रेरणादायी कविता को समाज के बीच पुनः स्थापित करने की यह प्रशंसनीय पहल है। श्री संतोष चौबे ने साहित्य और आधुनिक तकनीक तथा कलाओं के रचनात्मक रिश्ते के महत्व पर प्रकाश डाला। जबकि संगीतकार कौशिक ने अपना अनुभव सुनाते हुए साफ किया संगीत का प्रयोग कविता की भीतरी आँच को प्रखर करे न कि शब्द और भाव सात सुरों के शोर में गुम हो जाएँ। वरिष्ठ

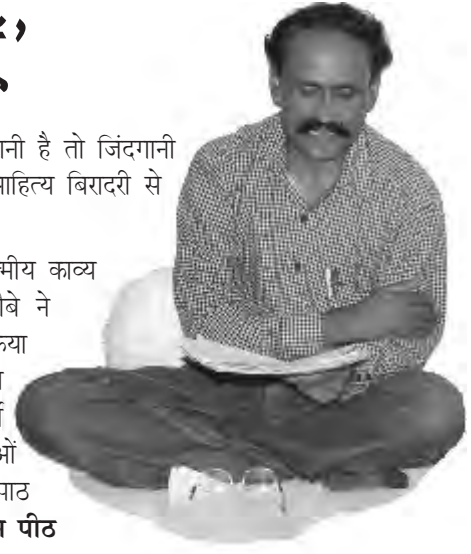
कला समीक्षक श्री विनय उपाध्याय ने कविता और संगीत की चली आ रही परंपरा को रेखांकित करते हुए श्री विनोद तिवारी के रचनाकर्म पर टिप्पणी की। उपस्थित सृजनधर्मियों ने भी साहित्य और संगीत के बीच रचनात्मक रिश्तों की जरूरी पड़ताल की।

आठ ट्रैक के साथ तैयार हुए इस अलबम का समारोह में डेमो भी किया गया। इस सृजन प्रसंग में राजधानी के वरिष्ठ गीतकार, संस्कृतिकर्मि तथा संगीतप्रेमी उपस्थित थे।

‘प्रेमशंकर की पानीदार कविताएँ’

भोपाल। “झील एक नाव है/जो धरती में तैर रही है/लिए हुए इच्छाएँ/कि पानी है तो जिंदगानी है....।” यशस्वी युवा कवि प्रेमशंकर शुक्ल कुछ ऐसी ही पानीदार कविताएँ लिए साहित्य विरादरी से पेश आए।

वनमाली सृजनपीठ के नव विकसित साहित्य - परिसर में आयोजित इस आत्मीय काव्य प्रसंग में वरिष्ठ कवि आलोचक राजेश जोशी तथा कथाकार-संस्कृतकर्मी संतोष चौबे ने प्रख्यात कहानीकार-चिंतक स्व. वनमालीजी का उनकी पुण्यतिथि के निमित्त स्मरण किया और प्रेमशंकर की बड़ी झील और पानी पर लिखी श्रृंखलाबद्ध कविताओं को एक युवा कवि का जिम्मेदार रचनाकर्म बताया। गोष्ठी के पूर्वर्ण में प्रसिद्ध रंगकर्मी आलोक चटर्जी ने हिन्दी के दो मूर्धन्य कवियों स्व. शमशेर बहादुर सिंह और अज्ञेय की चयनित कविताओं - असाध्य वीणा, बात बोलेगी, एक पीला पत्ता, मौन तथा औपन्यासिक आदि की पाठ प्रस्तुति कर कविता की महान विरासत को याद किया। इस अवसर पर **वनमाली सृजन पीठ** के अध्ययन केन्द्र का शुभारंभ भी हुआ।



रजा पुरस्कार और दुष्यंत सम्मान से विभूषित कवि प्रेमशंकर के रचना पाठ से पहले कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने जल और जीवन के सनातन रिश्ते और सौन्दर्यबोध से रची कविताओं की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। प्रेमशंकर ने ‘पानी-प्यास’, ‘झील एक नाव है’, ‘सूखी झील’, ‘पानी बहता है’, ‘पानी उदास है’, ‘प्यास’ सहित करीब दो दर्जन कविताओं का भावपूर्ण वाचन किया। मनछूते बिम्बों, प्रतीकों और शब्द-सौन्दर्य के मानक रचती इन कविताओं पर उन्हें भरपूर दाद मिली - ‘पनघट से गिलास तक आने की/पानी की यात्रा कितनी कठिन है/जानती है जिसके बारे में/सबसे अधिक स्त्रियाँ/आरंभ से स्त्रियाँ ही जिन्दा रखती हैं/पानी और प्यास’। प्रेमशंकर ने इन कविताओं के संबंध में अपना मन्तव्य खुलासा करते हुए कहा कि भोपाल की बड़ी झील से पहली मुलाकात ने ही मेरी कविता की जमीन को बहुत पानीदार बना दिया था। यह पानी के प्रति मेरे प्रेम के अनूठे प्रतीक भी हैं। भाव रस से छलकती इन कविताओं को सुनने गोष्ठी में खासतौर पर शरीक हुये प्रतिष्ठित कवि भगवत रावत ने प्रेमशंकर को यह कहकर साधुवाद दिया कि बीच के बरसों में अपने मार्ग से भटक गई हिन्दी कविता को जैसे सही ठौर मिल गया है। मैं इसे कविता की वापसी मानता हूँ जो एक प्रतिभाशाली युवा कवि के जरिये आगे की उम्मीदें जगाती है। वनमाली पीठ के अध्यक्ष संतोष चौबे ने आखिर में कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये कहा कि रचनापाठ और साहित्येतर विमर्श का सिलसिला जारी रहेगा। इस अवसर पर बलराम गुमास्ता, देवीलाल पाटीदार महेन्द्र गगन, प्रज्ञा रावत, शैलेन्द्र शैली, राग तेलंग, रामनिवास झा, नवल जायसवाल, उमेश नेमा, शोभा चटर्जी, मोहन सगोरिया, वसंत सकरगाए, विनिता चौबे सहित भोपाल के अनेक सृजनधर्मी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन सृजन पीठ के संयोजक विनय उपाध्याय ने किया।



‘वनमाली’ परिसर (भोपाल) में डॉ. कमल (दाएं) और डॉ. महुआ (बाएं)

स्त्री लेखन में वैश्विक सवाल

डॉ. कमल कुमार और महुआ का संवाद

भोपाल। तमाम चुनौतियों के स्त्री लेखिकाओं ने आज अपने साहस और स्वाभिमान का परिचय देते हुये मध्यमवर्गीय चिन्ताओं से बाहर निकलकर वैश्विक सवालों की ओर रुख किया है। खुद दुनिया के बाजार में वस्तु और व्यक्ति के बीच जूझ रही आज की स्त्री के अन्तरंग को स्त्री लेखिका ने पूरी शिद्दत से अभिव्यक्त करने में कोई कोताही नहीं बरती है। जाहिर है कि स्त्री लेखिकाओं के चिंतन और विमर्श का पाठकों ने इधर भरपूर स्वागत किया है।

यह बात नई दिल्ली से आई प्रसिद्ध लेखिका डॉ. कमल कुमार तथा राँची की प्रखर युवा उपन्यासकार डॉ. महुआ माजी ने अरेरा कॉलोनी स्थित **वनमाली सृजन पीठ** के अध्ययन केन्द्र में ‘संवाद’ के दौरान की। मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत इन लेखिकाओं ने इस बात पर सहमति जताई कि आज साहित्य से समाज के फासले निश्चय ही बढ़ते जा रहे हैं किन्तु हमें पाठकों के मिजाज और आज की जरूरतों पर भी गंभीरता से

मेलजोल की मिसाल

सोचने की दरकार है। 'स्त्री कथा-अंतर्कथा' तथा 'जो कहूँगी सच कहूँगी' जैसी स्त्री विमर्श पर केंद्रित कृतियों में विचार के उत्तेजक आयाम लेकर चर्चा में आई डॉ. कमल कुमार ने एक सवाल के जवाब में कहा कि उन्होंने हमेशा ही स्त्री के दृढ़ को आधुनिक पृष्ठभूमि में देखने परखने का तर्किक प्रयास किया है। उन्होंने कहा कि हमारे समय के आलोचकों ने पूर्वाग्रह से इस लेखन को दरकिनार किया लेकिन सजग पाठकों ने इस तरह के ज्वलंत लेखन की ओर सदा जिज्ञासा और सदाशयता का परिचय दिया। डॉ. कमल कुमार ने कहा कि सरकारी पुरस्कारों-सम्मानों को लेकर वे कभी भी पार्टी पोलिटिक्स पर स्वयं को फोकस नहीं करती। उन्होंने स्वीकार किया कि लेखकों की खेमेबंदी ने विगत कुछ वर्षों में साहित्य और पाठक दोनों के रिश्तों में फांक पैदा की है।

इन दिनों झारखण्ड के आदिवासियों के जीवन और संघर्ष पर केंद्रित वृहद उपन्यास लिखने में मशगूल चर्चित युवा लेखिका डॉ. महुआ माजी ने बताया कि उनकी यह पुस्तक स्थानीय मुद्दों पर एकाग्र होने के बावजूद ग्लोबल चिंताओं को समेट रही है। वे विगत दो वर्षों से आदिवासियों की पृष्ठभूमि का गहरा सर्वेक्षण कर रही हैं। महुआ ने कहा कि युवा पीढ़ी का गंभीर साहित्य से अलगाव की वजह जटिल भाषा तथा दुरूह शैली है जो अच्छे कथ्य के बावजूद सम्प्रेषण में खाई पैदा करता है। उन्होंने कहा कि मेरे पहले उपन्यास पर जिस तरह पूरे देश के पाठकों ने अपना रुझान दिखाया वह मेरे लिए आश्चर्य ही था लेकिन तब मैंने जाना कि सरल-सहज शैली में भी एक महान विचार को रचा जा सकता है और वह पाठकों के सिर चढ़कर बोलता है। वनमाली सृजन पीठ के समन्वयक विनय उपाध्याय ने दोनों लेखिकाओं का स्वागत किया।

साहित्य और कला एक मंच पर

इन्दौर। एक ही आयोजन में साहित्य और चित्रकला का समन्वय हुआ है। इस तरह के आयोजन होते रहने चाहिए जिसमें इन दोनों की बातों का समावेश हो। यह बात प्रीतमलाल दुआ सभागृह में आयोजित 'चर्चा व सम्मान' के कार्यक्रम में साहित्यकार नर्मदा प्रसाद उपाध्याय ने व्यक्त की। विश्व पुस्तक दिवस की संध्या शासकीय श्री अहिल्या केन्द्रीय पुस्तकालय, 'स्पर्श' एक शब्दानुभूति, इन्दौर संभाग पुस्तकालय संघ व शिक्षक संचेतना के संयुक्त तत्वावधान में कार्यक्रम आयोजित हुआ था। कार्यक्रम में लेखक नर्मदा प्रसाद उपाध्याय, प्रकाशक मनीष जैन, लायब्रेरी प्रोफेशनल सुशीला मोतीवाले शिक्षक लता वाजपेयी, रंग प्रकाशन के बैनर तले रामबरन यादव और मनीषा शर्मा को सम्मानित किया गया। कवि नरहरि पटेल ने भी सहमति जताई कि साहित्यकार और चित्रकारों को एक मंच पर लाने वाला आयोजन होना चाहिए। नर्मदाप्रसाद उपाध्याय ने भारतीय चित्रांकन परंपरा की विभिन्न शैलियों में बनाए गए चित्रों का दृश्यमय प्रस्तुतिकरण व्याख्यान सहित किया।



रंगमंच और सिनेमा के प्रसिद्ध अभिनेता राजेन्द्र गुप्त 'इफतेखार नाट्य समारोह' का भारत भवन में शुभारंभ करते हुए

भोपाल। समारोहों की शकल में भोपाल की रंगबस्ती को एक भरोसेमंद सौगात इधर इफतेखार क्रिकेट अकादेमी ने दी है। दो दशक पहल मैदान और मंच के मेलजोल और सौहार्द के संदेश को लेकर संस्था ने जो पुरजोर दस्तक दी थी उसका असर काफी दूर तक दिखाई दिया। गहरा भी, जिसकी मिसाल हाल ही भारत भवन में देखने को मिली। इन बारह दिनों की शामें दर्शकों ने स्थापित, वरिष्ठ रंगकर्मियों से लेकर युवा-निर्देशकों और बिल्कुल नवागत कलाकारों के अनुभवपक्व सृजन तथा उत्साह को देखा-परखा। गौर करने की बात ये है कि प्रेक्षकों की उमड़ती भीड़ में 'कलाओं को देखने' के अनुशासन पर अगर सवाल उठता है तो यह पहलू भी उम्मीद



बंधाता है कि बहुत से दर्शक अब प्रस्तुति और प्रयोग को लेकर बकायदा 'विमर्श' करने लगे हैं।

निश्चय ही वैचारिकता की यह गुंजाइश नियमित रंगकर्म की ही कोशिश का नतीजा है। 'इफ्तेखार' की पहल इस मायने में तो महत्वपूर्ण है लेकिन 'देखने के अनुशासन' और आयोजन के 'शिल्प' की दृष्टि से सूत्रधारों को चेतने की जरूरत है वरना रंगमंच कहीं सिर्फ प्रबंध साधने वाला 'इवेंट' भर न रह जाए।

पहली शाम जलसे का शुभारंभ करने म.प्र. के गृहमंत्री उमाशंकर गुप्ता और विधायक धुवनारायण सिंह आए। उन्होंने वरिष्ठ रंगकर्मी निर्देशक अलखनंदन और राजेन्द्र गुप्ता के साथ ही खेलों की हिमायत करने वाले राज्य के पूर्व मुख्य सचिव ए.वी. सिंह को साधना सम्मान भेंट किए। सम्मान की श्रृंखला समारोह की आखिरी शाम तक जारी रही जिसमें मंच और नेपथ्य के चुनिंदा कलाकारों को विभिन्न अलंकरणों से विभूषित किया गया। जिनमें स्मित मेहता, कमल जैन, कमलेश सेन, शुभाक्षी भट्ट, शकील प्रियंका बेदी आदि शामिल थे।

बहरहाल, दिवंगत रंगविभूति हबीब तनवीर को समर्पित इस उत्सव की पहली पेशकश का जिम्मा उनकी फनकार बेटी नगीन तनवीर को दिया गया। अपनी रुचि और क्षमता को नगीन ने हबीब निर्देशित नाटकों के 'रंग संगीत' में समेटा। लगभग डेढ़ घण्टे के इस रूपक में 'नया थिएटर' की मंडली ने आगरा बाजार, मिट्टी की

मेलजोल की मिसाल...



खेल साधना सम्मान से म.प्र. के पूर्व मुख्य सचिव ए.वी. सिंह तथा रंग साधना सम्मान से विभूषित वरिष्ठ नाट्य निर्देशक अलखनंदन और राजेन्द्र गुप्त इफ्तेखार समारोह के मंच पर साथ-साथ।

इफ्तेखार स्मृति नाट्य समारोह

गाड़ी, बहादुर कलारिन, देख रहे हैं नैन और गाँव के नाव ससुराल जैसी मशहूर नाट्यकृतियों के गीतों को अभिनय सहित प्रस्तुत किया। हालांकि पहले दिन की समारोही औपचारिकताओं के विलंब की वजह से कई दर्शक 'रंग संगीत' का पूरा लुत्फ उठाए बगैर सभागार से रुखसत कर गए लेकिन तटस्थ कलाप्रेमियों के लिए बेशक नगीन का यह संयोजन लाजवाब था। बाद के दिनों में मुंशी प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'बड़े भाई साहब' पर आधारित नाटक 'बिग बी' (निर्देशन - डॉ. एम. सईद आलम), मोनोलॉग 'चंदा मामा दूर के' (निर्देशन - एम.के. रैना), महानिर्वाण (निर्देशन - अलखनंदन), 'मैं राही मासूम' (निर्देशन - भास्कर शेवालकर), गाजीपुर की हसीना (निर्देशन - संजय मेहता) और 'फादर' (निर्देशन - आलोक चटर्जी) के मंचन दर्शकों को अपनी ओर खींचने में सफल रहे। नजीर कुरैशी के ऐतिहासिक नाटक 'तुगलक' और आखिर के दो दिनों में हबीब तनवीर की क्लासिक नाट्य कृतियों 'चरणदास चोर' तथा 'लाहौर' को फिर-फिर देखने की गरज इस तथ्य का सबूत देती है कि अवाम की तिश्नगी नाटकों को लेकर बाकी है।

रेशा-रेशा खटकर बारह दिनों के इस समागम की शकल गढ़ने वाले इफ्तेखार अकादेमी के सचिव संयोजक रंगकर्मी हमीदुल्ला खॉं मामू को शाबाशी देने की भी होड़ लगी रही। कमोबेश हर नाटक की दर्शक बनी प्रीति अग्रवाल की टिप्पणी थी - "खेल और नाटक की बुनियादी खूबियों का मेल कराने वाला शायद देश की यह एकमात्र गतिविधि है। टीम स्पीरिट यहाँ भी है, वहाँ भी।"

रंग आलाप समारोह

नई पुरानी आहटें

रंगमंच सिर्फ वक्त के हालातों को जज्ब नहीं करता बल्कि विगत आगत के बीच आज की कलम से नई इबारत लिखने की कोशिशें भी करता है। आठ से बारह जून की पाँच शामें इसी सच का पैगाम बनीं। भोपाल के नाट्यप्रेमियों के लिए मौका था स्व. हबीब तनवीर की स्मृतियों को समर्पित 'हम' थिएटर ग्रुप द्वारा रंग आलाप नाट्य जलसे का। आयोजन भारत भवन में हुआ।

समारोह की पहली शाम बुंदेलखंड के लोकनायक लाला हरदौल के व्यक्तित्व का गुणगान करती नाट्य प्रस्तुति लाला हरदौल से महकती रही। हम थिएटर ग्रुप द्वारा मंचित इस बहुमंचित नाटक का निर्देशन युवा रंगकर्मी बालेद सिंह ने किया। कोमल कल्याण जैन के इस संगीतमय नाट्य आलेख को संवारने में सरोज शर्मा रिजवान खान और अजय श्रीवास्तव का अभिनय प्रयास सराहनीय था।

सुअवसर होने के बावजूद मध्यमवर्गीय सोच व संस्कार आदमी के सपनों को किस दर्जा छलते हैं इसी चेतना से नाट्यप्रेमी समारोह की दूसरी शाम मुखातिब हुए। 'त्रिकर्षि' के बैनर तले मंचित नाटक ...बस इतना सा ख्वाब है का तानाबाना इस स्वप्न-छल के इर्दगिर्द ब्यूरोक्रेसी की ज्यादातियों पर भी करारा व्यंग्य करता है। निर्देशक के.जी. त्रिवेदी की अनूठी रंगमंचीय परिकल्पना लेखक श्रीकांत आपटे



के नाट्य चरित्रों को उदात्त बनाती है। कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि नाटक के मुख्य चरित्र को निभा रहे अनुभवी अभिनेता इरफान सौरफ को नाटक के जरिए नई और आदरपरक पहचान मिली है। प्रेम अष्टाना के अलावा सुमिता श्रीवास्तव व सोनाली भारद्वाज का अभिनय भी प्रभावी रहा।

युवा रंगकर्मी सादात भारती के निर्देशन में तीसरी शाम 'मुगलों ने सलतनत बख्श दी' का मंचन हुआ। भगवतीचरण वर्मा की कहानी पर आधारित इस एकपात्रीय नाटक

का लम्बोलुबाब दरअसल मुगलकाल की टोह लेते हुए मौजूदा बाजारतंत्र पर करारा कटाक्ष करता है। दर्शकों को पूरे समय बाँधे रखने में सफल रहे अजय श्रीवास्तव 'अज्जू' के अभिनय में कितना दमखम है, नाट्य प्रस्तुति की सफलता इस बात का प्रमाण सिद्ध हुई।

जलसे की चौथी शाम 'आकार कला संगम' दिल्ली के नाट्य निर्देशक सुरेश भारद्वाज सीगल के बहुचर्चित नाटक 'टायपिस्ट' प्रेरित नाटक 'आठ घंटे' को लेकर मुखातिब हुए। नाटक का मर्म जीवन से जुड़ी उन महीन बातों की ओर इशारा करता है जो अहम होते हुए भी प्रायः छिंटक दी जाती है। तीस साल के एक भरेपूरे अनुभव को कार्यालयीन आठ आठ घंटे में सहेजने के इस उपक्रम में रमेश मनचंदा व अनुराग अरोरा का अभिनय सचमुच प्रशंसनीय रहा। समारोह की आखिरी शाम स्व. हबीब तनवीर के कृतित्व से दर्शक रोमांचित होते रहे। 'नया थिएटर' के कृतज्ञ कलाकार उनके द्वारा निर्देशित बहुप्रतिष्ठित तथा देश-परदेश में अनेक बार मंचित नाटक 'चरणदास चोर' को लेकर दर्शकों से ठसाठस भरे 'अंतरंग प्रेक्षाग्रह' में एक मर्तबा फिर मुखातिब हुए। सर्वविदित है कि छत्तीसगढ़ी लोकरंग में रंगा नाटक का मिजाज संवादगत प्रतिउत्पन्नता के जरिए मनोरंजन का अलग दिलचस्प मुहावरा रचता है जिसके केंद्र में मर्म को आहट करती जालिगत अव्यवस्थाएं हैं। वरिष्ठ रंगकर्मी रविलाल सांगड़े की चेष्टाओं में हबीबजी की अभिनव मुद्राओं को स्पर्श करने की आत्मीय कोशिश नजर आई।

प्रभुनाथ सिंह आजमी का कथा-पाठ

भोपाल। समय की आहट और बदलती फितरत के बीच कहानी मनुष्य के शारीरिक व मानसिक व्यवहार में सूक्ष्म परिवर्तनों का मार्मिक खुलासा करती है तो वो हमारी अपनी भी लगती है। लगता है कथा-पात्र हमारे भोगे यथार्थ की नुमाइंदगी कर रहे हैं। बाजारवाद और सूचनाजनित कहानियों के इस रूखे दौर में भावुक कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं, जिनका रेखांकित होना बहुत जरूरी है।

इन विचारों के बीच यशस्वी कथाशिल्पी और सिने-पटकथा लेखक प्रभुनाथ सिंह आजमी प्रगतिशील लेखक संघ के बुलावे पर मर्मस्पर्शी कहानी 'वे तीन' को लेकर साहित्यप्रेमियों के रूबरू हुए। कहानीकार रमाकांत श्रीवास्तव की अध्यक्षता में आयोजित इस कथापाठ कार्यक्रम में स्वनामधन्य आलोकचक्रद्वय डॉ. धनंजय वर्मा तथा प्रो. कमला प्रसाद के अलावा कवि लीलाधर मंडलोई ने 'वे तीन' के मर्म को भोगा हुआ यथार्थ बताया।

रमाकांत ने कहानी के परिवेश पर टिप्पणी की। डॉ. धनंजय वर्मा ने कहा कि यह पराजय की कहानी नहीं है और ना ही लेखक ने ब्यूरोक्रेट दवे को बतौर खलनायक पेश किया है। प्रो. कमलाप्रसाद ने कहानी के बहाने ब्यूरोक्रेसी कल्चर और उससे आहत परिस्थितियों का जिक्र करते हुए व्यवस्था बदलने की बात कही। कवि लीलाधर मंडलोई के अनुसार कहानी, डाक्युमेंट्री का शिल्प में है जिसमें लॉग शॉट नहीं है। संचालन कवि पूर्णचंद्र रथ ने किया। शैलेन्द्र शैली ने आभार माना।

- वसंत सकरगाए



रंगपटल पर 'नर्मदा'

पुराण के पन्नों पर बहती नर्मदा की जीवन गाथा मानव संग्रहालय की कला वीथिका में जीवन का नव सौंदर्य लिए जी उठी। 'ओम नमो नर्मदाय नमः' कार्यक्रम में भरतनाट्यम नृत्यांगना श्वेता देवेन्द्र और कथक नृत्यांगना क्षमा मालवीय ने साथियों के साथ चार प्रस्तुतियाँ दीं। कार्यक्रम की शुरुआत देवी स्तुति 'जय जय जय जननी देवी...' से हुई।

दर्शकों को 'ओम नमो नर्मदाय नमः' में कथक एवं भरतनाट्यम के माध्यम से उत्तर और दक्षिण का अद्भुत संगम देखने को मिला। इसमें माँ नर्मदा के सुंदर नवरूपों को दर्शाया गया। प्रस्तुति के प्रथम अंग में माँ नर्मदा के सुंदर नवरूपों को दर्शाया गया। प्रस्तुति के प्रथम अंग में माँ नर्मदा के १५ नामों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि चिरकुमारी माँ नर्मदा का जल पीने से समस्त पापों का नाश होता है।

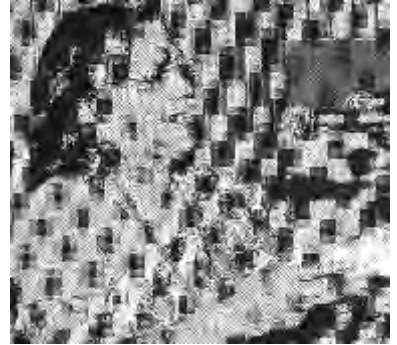
कार्यक्रम के चारों अंगों में क्रमशः माँ नर्मदा के नाम, मोक्ष, उत्पत्ति, जलयात्रा का वर्णन और आदिशंकराचार्य द्वारा लिखित कालजयी रचना 'नर्मदा अष्टकम्' का सुंदर वर्णन किया गया। इसमें 'ओम माँ नर्मदा नमो नमः' ओम चित्रकूटा...' की प्रस्तुति में नृत्य का अनुपम सौंदर्य देखते ही बना। भगवान शिव द्वारा अंधकासुर का वध कर देने के बाद शिव की स्तुति 'ओम शंभू शिव शंभू स्वयंभू' के माध्यम से की गई। भरतनाट्यम के माध्यम से इस अद्भुत प्रस्तुति के बाद चतुर्भुज भगवान विष्णु ने कथक में 'आनंद शरणम् सेवित चरणम्' कहकर भगवान शिव की स्तुति की। तब माँ नर्मदा का जन्म हुआ। भगवान शिव ने अनुपम सौंदर्य की मूर्ति नर्मदा से कहा तुम्हारे दर्शन मात्र से मनुष्य के पापों का नाश होगा। तुम धरती लोक में जाकर लोगों के पाप-ताप हरो, तुम्हारे जल में विसर्जित होने वाली हड्डियाँ पाषाण होंगी। इसके पश्चात माँ नीलवर्णी माँ नर्मदा ने अपने प्रेम और उसके पश्चिम दिशा में बहने की कथा का वर्णन किया। इस दौरान नर्मदा की यात्रा संघर्षमयी रही। इस यात्रा में नर्मदा ने अमरकंटक से कपिलधारा और दूधधारा में बंट गई। इसके बाद नवल कोमल नवजात शिशु सी उज्ज्वला माँ नर्मदा भेड़ाघाट, होशंगाबाद, ओमकारेश्वर, महेश्वर और भडूच से निकलकर खंभात की खाड़ी में जाकर समुद्र से मिलीं।

कार्यक्रम का समापन 'नर्मदाष्टकम्' में 'त्वदीय पाद पंकजम्, नमामि देवी नर्मदे' से हुआ। अंत में माँ नर्मदा अपनी संतानों से नदी को स्वच्छ रखने का निवेदन किया। उन्होंने कहा कि मैंने अपने ऊपर बढ़ते पापों को स्वीकार कर लिया है। अब तक मैं आनंद के लिए दौड़ती थी, लेकिन अब प्यास बुझाने के लिए दौड़ रही हूँ। माँ नर्मदा के इस उद्बोधन में जलसंकट साफ झलक रहा था। यह प्रस्तुति कथक और भरतनाट्यम की अलौकिक जुगलबंदी थी। सभा के सूत्रधार कला समीक्षक विनय उपाध्याय थे। -राजेश गाबा

कविता के साथ याद आये टैगोर

'यशो पच्चीसे बैसाख' का पाठ

विश्व साहित्य जगत में भारत को विशेष पहचान दिलाने वाले गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 149वीं जयंती पर रवीन्द्र भवन में कार्यक्रम का आयोजन हुआ। इसका आयोजन म.प्र. संस्कृति विभाग व 'त्रयी' सांस्कृतिक संस्था ने संयुक्त रूप से किया। समारोह का शुभारंभ श्याम वैषणा ने सितार वादन पेश कर किया। तबले पर उनकी संगत रमन तिवारी और हारमोनियम पर जयंत कुमार दत्ता ने की। इसके बाद डॉ. पापिया दासगुप्ता ने गुरुदेव द्वारा रचित कविता 'यशो पच्चीसे बैसाख' का पाठ किया। वहीं काबेरी वाम मित्रों ने नृत्य के माध्यम से गुरुदेव द्वारा रचित पूजा, पर्याय-प्रेम, प्रकृति, विचित्र आदि कविताओं की मनमोहक प्रस्तुति दी। उनकी मनमोहक प्रस्तुति ने दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया।



रचना पाठ : पापिया दासगुप्ता

उन्होंने ऐसा समां बांधा कि लोग लगातार एक ही मुद्रा में बैठे रहे। उन्होंने अपने नृत्य के माध्यम से प्रेम की सुगंध और पूजा में समर्पण के भावों की सुगंध और पूजा में समर्पण के भावों को बखूबी दर्शाया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि जेजे दत्ता थे। इस अवसर पर कलाकारों ने ग्रुप डांस की भी प्रस्तुति दी। कार्यक्रम का संचालन तरुण रॉय ने किया।

गुरुदेव टैगोर की जयंती के अवसर पर शनिवार को रवीन्द्र भवन परिसर में उनकी प्रतिमा की स्थापना हुई। प्रतिमा का अनावरण भरतनाट्यम के प्रसिद्ध कलाकार शंकर होम्बल ने किया। -राखी झंवर

मदन कश्यप और शरद दत्त को शमशेर सम्मान

नई दिल्ली। वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह ने कहा है कि मदन कश्यप में जहां एक ओर सर्जनात्मक विनम्रता है, वहीं शरद दत्त में व्यापकता के साथ गहराई भी है। सिंह ने यह बात इन दोनों साहित्यकारों को बुधवार को त्रिवेणी सभागार में क्रम से कविता और सृजनात्मक गद्य के लिए 2009 का 16वां शमशेर सम्मान प्रदान करने के बाद कही। इन साहित्यकारों को पुरस्कार के तौर पर प्रशस्ति पत्र के साथ प्रतीक चिह्न और सम्मान राशि भेंट की गई।

नामवर सिंह ने कहा कि मदन कश्यप अपनी कविताओं की कम चर्चा करते हैं जबकि शरद की रचनाओं की व्यापकता कुछ ज्यादा है। वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी ने कहा कि शमशेर हिन्दी के संभवतः पहले उर्दू कवि भी थे। उन पर हमेशा उर्दू का प्रेम और संस्कृत का आतंक हावी रहा। उन्होंने मुक्तिबोध के कविता संग्रह 'चांद का मुंह टेढ़ा है' के लिए लिखी गई शमशेर की भूमिका को कविता संग्रहों की अब तक लिखी सबसे बेहतरीन भूमिका बताई।

कवि विष्णु नागर ने कहा कि शमशेर की पीढ़ी में गहरी समझ और व्यापक अध्ययन था, जो अब की पीढ़ी में नहीं नजर आती। कवयित्री अनामिका ने कहा कि मदन कश्यप की कविताओं में भूमंडलीकरण के दौर की जटिलता खुलकर उभरती है। लीलाधर मंडलोई ने शरद दत्त की कविताओं से चित्रित किया। मध्यप्रदेश के खंडवा की 'अनवरत' संस्था से अब तक 23 रचनाकारों को शमशेर सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। इस अवसर पर 'शरद की व्याप्ति' किताब का विमोचन भी किया गया। संस्था के संयोजक प्रताप राव कदम ने सभी के प्रति आभार जताया।

'नयी चुनौतियां और वैकल्पिक मीडिया'

उदयपुर। आगरा पूंजी की मीडिया पर पकड़ मजबूत हुई है और इस पकड़ ने खबर को मनोरंजन में बदल दिया है। राहुल महाजन, मल्लिका शेरवत या राखी सावंत जैसे चरित्रों का मीडिया सुर्खियों में होने के कारण भी यही है। जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय के जनपद विभाग और मीडिया अध्ययन केन्द्र के साझे में हुए "नयी चुनौतियां और वैकल्पिक मीडिया" विषय पर पत्रकार अनुराग चतुर्वेदी ने अपने व्याख्यान में कहा कि मनुष्यता की पहचान और हिंसा रहित समाज के लिए वैकल्पिक मीडिया की जरूरत हमेशा बनी रहेगी। चतुर्वेदी ने विश्व मीडिया के प्रमुख चैनलों, समाचार पत्रों एवं वेब साइट्स की चर्चा करते हुए कहा कि पूंजी और मीडिया का गठजोड़ स्वतः नहीं टूटेगा इसके लिए छोटे छोटे प्रयासों की निरन्तरता जरूरी है।

मीडिया विशेषज्ञ डॉ. माधव हाड़ा ने कहा कि परिवर्तन की गति से तकनीक ने बेहद तेज कर दिया है और इसके भाषाई साहित्यिक अंतर्क्रियाएं बढ़ रही हैं। समन्वय डॉ. पल्लव ने लघु पत्रिकाओं का संदर्भ देते हुए कहा कि मीडिया में सच्चे जन पक्ष का निर्माण करने में इन पत्रिकाओं की बड़ी भूमिका है। डॉ. लक्ष्मीनारायण नन्दवाना, डॉ. निलेश भट्ट, और पत्रकार हिम्मत सेठ ने भी अपने विचार व्यक्त किए। अध्यक्षता कर रहे लोक शिक्षण प्रतिष्ठान के निदेशक श्री सुशील कुमार ने कहा कि टीआरपी को नियंत्रित करने की शक्ति पाठकों और दर्शकों के हाथों में है। इस शक्ति का उपयोग करते हुए मीडिया की विकृतियों से लड़ना होगा। -पल्लव

शामे गजल

उदयपुर। डॉ. मोहन सिंह मेहता मेमोरियल ट्रस्ट परिसर में बैसाख जेठ की तपन के बाद मेघों के आगमन पर आयोजित शामे गजल का आगाज हर दिल अजीज डॉ. प्रेम भण्डारी ने "दागदहली की नज्म ईशक की दास्तान है प्यारे, अपनी जुबान है प्यारे" से

किया। डॉ. प्रेम भण्डारी तथा देवेन्द्र हिरन ने, "प्यार तो कहाँ इक समझौता है, कुछ दिन बाद यही होता है" शायर प्रेम भण्डारी, राहत इन्दौरी, कैसर जाफरी, अली अहमद अली, साहिर लुधियानवी, सुदर्शन फकीर, अहमद फराज से लेकर मिर्जा गालिब के कलाम को भी विभिन्न रागों में पेश किया गया। संयोजन ट्रस्ट सचिव नन्दकिशोर शर्मा ने किया।

हरियाली चित्तरों के हाथ

भोपाल। सिर साठे रुक रहे तो भी सस्ता जाण.... यानि सिर के बदले अगर पेड़ भी बचे रहे तो यह मुनाफे का सौदा है। पर्यावरण की रक्षा को लेकर मरुभूमि राजस्थान में अलख जगाने वाली अमृता देवी के इस मंत्र को जब चित्रकार देवीलाल पाटीदार ने अपने केनवॉस पर उतारा तो स्वराज कला वीथिका में 'सिमटती हरियाली' का सपना कौंध उठा। मध्यप्रदेश के सांस्कृतिक अमले के सहयोग से पर्यावरण नियोजन संगठन (एफ्को) ने शहर के लगभग दो दर्जन चित्रकारों की कार्यशाला आयोजित कर प्रकृति के धूसर पड़ते रंगों की की तीन दिनों में वरिष्ठ चित्रकार एल.एन. भावसार, सुरेश चौधरी, वसंत भार्गव और वीणा जैन से लेकर गोंड चित्रकार दुर्गाबाई व्यास तक हर हाथ हरियाली का परिचय थामे रहे। रजा पुरस्कार से सम्मानित युवा चित्रकार रहीम मिर्जा की राय काबिले गौर है- "हमें मन की धरती पर संवेदनाओं की नमी को बचाने की जरूरत है। बाहर का परिवेश भी अनायास खिल उठेगा।"

पानी बचाने का संदेश

भोपाल। मनुष्य पहले प्रस्तर युग में रहता था तब उसके पास सीमित संसाधन थे। फिर धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता गया। कई परिवर्तन आए और वह आधुनिक कम्प्यूटर युग तक आ पहुंचा, लेकिन इस दौरान उसने अति महत्वाकांक्षाओं के कारण पर्यावरण का भारी विनाश किया। जिसका नतीजा आज पानी की कमी के रूप में हमारे सामने है।

वर्तमान की यह विसंगति मूकाभिनय (माइम) से सजी प्रस्तुति 'परछाइयाँ' में साकार हुई। प्रदर्शन रवीन्द्र भवन में किया गया। माइम विशेषज्ञ मनोज नायर के निर्देशन में बच्चों द्वारा तैयार इस प्रस्तुति में बिना संवादों के सिर्फ भाव अभिनय तथा कुछ प्रतीकों जैसे पाइप, हरे वृक्ष आदि का प्रयोग करके बताया गया कि मनुष्य के द्वारा पर्यावरण व प्राकृतिक साधनों का अंधाधुंध दोहन किया गया है, और अगर हम अभी भी नहीं चेते, तो हमें वापस पाषाण युग में लौटना पड़ सकता है। हमें पानी की बर्बादी भी रोकनी होगी। इसके अलावा बच्चों ने माइम की कुछ विशिष्ट भावभंगिमाओं को हारमोनी, मिरर सीक्वेंस आदि के जरिए बखूबी प्रदर्शित किया। इस मौके पर कला अकादमी के बाल नाट्य शिविर में प्रशिक्षित बच्चों ने भी मुंबई से आई रंगकर्मी कनुप्रिया पंडित के निर्देशन में श्लोक प्रस्तुत किए। उल्लेखनीय है कि संस्कृति संचालनालय के सहयोग से पहली बार कला अकादमी में आयोजित माइम कार्यशाला में बच्चों ने इस प्रस्तुति को तैयार किया था। इसमें 10 से 16 साल तक के २२ बच्चों ने भाग लिया। प्रकाश संयोजन में कमल जैन का था।

रमेश उपाध्याय का कहानी पाठ

भोपाल। हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार रमेश उपाध्याय की कहानियों के जरिए ग्लोबल होती दुनिया के अंधेरे श्रोताओं के सामने उजागर हुए। स्पंदन संस्था की ओर से स्वराज भवन में आयोजित कथापाठ में श्री उपाध्याय ने अपनी कहानियाँ पढ़ीं।

उनकी कहानी 'ग्लोबल गाँव के अकेले' में संचार क्रांति के बावजूद अकेले पड़ते व्यक्ति का दर्द उभरा, वहीं उनकी दूसरी कहानी 'रूदाला' ने स्टैंडिंग कॉमेडी की विधा के जरिए सामाजिक विसंगतियों पर कटाक्ष किया। गौरतलब है कि दिल्ली वासी कथाकार,



नाटककार श्री उपाध्याय की २० से भी अधिक किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। हाल ही में 'बेहतर दुनिया की तलाश में' शीर्षक से आई साक्षात्कारों की किताब भी चर्चा में रही है। उन्होंने अंग्रेजी व गुजराती की कई किताबों का अनुवाद किया है। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे सुपरिचित साहित्यकार डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी ने कहा कि श्री उपाध्याय की कहानियों में प्रेमचंद परम्परा की झलक मिलती है। उनकी कहानियों में कहानीपन, रोचकता, किस्सागोई के साथ-साथ विचार जरूर रहता है। रामप्रकाश त्रिपाठी ने कहा कि उनकी कहानियों में करुणा की अंतर्धारा प्रवाहित होती है। कथाकार उर्मिला शिरीष ने कार्यक्रम का संचालन किया।

कला के नए कुटुम्ब का उदय

'आर्ट 20-20'



भोपाल। मशहूर शायर मरहूम अली सरदार जाफरी ने अपनी एक नज्म में कहा है- गुप्तगू बंद न हो, बात से बात चले...। विश्वग्राम के इस दौर में जब सारी कायनात तमाम सरहदों से निकलकर आपसदारी के नए समीकरण पेश कर रही हो, तो भला कलाओं को हमजोली की हिमायत क्यों नहीं करनी चाहिए?

इसी प्रश्नाकुलता और बेचैनी की बुनियाद पर 'आर्ट 20-20' ने अंगड़ाई ली है। संवाद और संपर्क का एक ऐसा सेतु जहाँ शिविरों और विचार की खानाबंदियों के बीहड़ से निकलकर एक स्वस्थ रचनात्मक परिवेश गढ़ने की संभावना है। हम कह सकते हैं कि यह विभिन्न माध्यमों में काम करने वाले कलाकारों-कलमकारों और सृजन के हिमायतियों के एक नए कुटुम्ब की कल्पना है जहाँ वाद-विवाद और संवाद का एक स्वाधीन मंच मुहैया हो सकेगा। एक सर्वसमावेशी मंच, जहाँ विचार, प्रचार, प्रसार और लोकरुचि के विस्तार का नया क्षितिज तैयार हो सकेगा। संचार क्रांति के इस दौर में आर्ट 20-20 ने कम्प्यूटर तकनीक का सहारा लेकर तैयार किया है एक ठिकाना, जिसमें एक क्लिक के सहारे बाँह पसारती कला की दुनिया से हाथ मिलाया जा सकेगा- 'www.आर्ट 20-20.नेट'

बहरहाल इस अनूठे अभियान को भोपाल के 'सप्तसारथियों' ने अंजाम तक पहुंचाया है। इस उम्मीद से भरकर कि अपने लोकतांत्रिक स्वरूप में यह जरिया रूपकर कलाओं के साथ ही संगीत, नाटक, नृत्य तथा कविता और गद्य की अन्य विधाओं को लेकर भी उसके रचनाधर्मियों के बीच विचार तथा सृजन की नई पीठिका तैयार कर सके। 'आर्ट 20-20' एक ऐसा वर्ल्ड वाइड नेटवर्क होगा जिसमें महानगरों से लेकर जनपदों तक काम कर रहे कलाकारों को अपनी पहचान, प्रदर्शन और प्रतिष्ठा गढ़ने के साथ ही दिशादर्शन की भी विपुल संभावनाएँ मुहैया हो सकेंगी। इस सूझ को साकार किया है शिल्पकार-चित्रकारों के एक छोटे से समूह ने जिनमें शामिल हैं निर्मला शर्मा, देवीलाल पाटीदार, लीलामणि पिल्लई, साजिद प्रेमी, जयंत बैनर्जी, हिमांशु जोशी और प्रदीप

अहिरवार ने। 18 मई की शाम कलाओं के मरकज भारत भवन में समारोह पूर्वक इस प्रकल्प की शुरुआत हुई। मेहमान बतौर हाजिर हुए आर्ट कंसल्टेंट आर्ट गैलरी (दिल्ली) के निदेशक - कला आलोचक सिद्धार्थ टैगोर तथा औद्योगिक संस्थान वर्द्धमान फेब्रिक्स के प्रमुख कार्यपालक निदेशक डी.के. मित्तल।

अभियान के मुख्य परिकल्पक और संस्थापक अध्यक्ष देवीलाल पाटीदार ने इस मौके पर कहा कि इस कला आन्दोलन की बुनियाद में दरअसल पूर्व राष्ट्रपति और चिंतक ए.बी.जे. अब्दुल कलाम का विजन 20-20 है। भला उत्कर्ष से जुड़े इस महास्वप्न में अपने समय की कलाओं तथा उनके सर्जकों को क्यों शामिल नहीं होना चाहिए। अतिथि उद्बोधन के तहत टैगोर ने भोपाल को देश-दुनिया की एक उर्वर सांस्कृतिक भूमि बताते हुए इस नई पहल को बड़ी संभावना की आहट बताया।

नई डगर पर 'नया थिएटर'

बिलासपुर। दुनिया-ए-फानी से दूर जाने के बाद मशहूर रंगकर्मी हबीब तनवीर का नाट्य दल 'नया थिएटर' की यह पहली नवनिर्देशित प्रस्तुति से प्रत्यक्ष होने का अवसर था। बिलासपुर के देवकीनंदन दीक्षित सभागार में नगीन तनवीर और रामचन्द्र सिंह कलाकारों को मंचन से दस मिनट पहले तक संवाद की अदायगी से लेकर समूह के दृश्य निर्माण की सीखें साझा कर रहे थे। इस रंग-प्रसंग में मंचित होने वाले दो छोटे नाटक थे- "गवैया कलामत खौं" और "पंडित राजधर की दशा"। डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय तथा वनमाली सृजन पीठ के सौजन्य से यह शाम सजी थी जिसके पूर्वरंग में नगीन ने अपने 'बाबा' के नाटकों में प्रयुक्त रंग संगीत की कुछ बानगियाँ भी पेश कीं। दरअसल प्रहसन शैली में मंचित दोनों नाटक 'नया थिएटर' की बीस दिवसीय कार्यशाला के दौरान तैयार किए गए थे जो खासतौर पर छत्तीसगढ़ के कुछ नए नाचा कलाकारों की तलाश के मकसद से भिलाई के निकट गाँव अरजुन्दा में आयोजित की गई थी। बकौल नगीन, उन्हें वैसे पारंगत और उत्साही कलाकार तो नहीं मिले जैसे हबीबजी को उनके जीवन काल में मिलते रहे। बताती हैं कि छत्तीसगढ़ का नाचा भी अब पश्चिम की नई हवाओं से बेअसर नहीं। बहरहाल, शहरी नवागतों की तुलना में फिर भी देहात की प्रतिभाओं में लगन तो है।

'नया थिएटर' के नाम पर बिलासपुर में दर्शकों की आमद उम्मीद भरी रही। छत्तीसगढ़ (रायपुर) हबीब तनवीर की जन्मभूमि है। रंगकर्म का पहला पाठ उन्होंने यहीं पढ़ा। इस धरती की लोकधारा को वे समंदर पार तक ले गए। यहाँ सम्मान-स्वीकृति मिली तो विवादों के ग्रहण से भी अपने को बचा नहीं पाए। प्रसिद्धि और

स्थापना के साथ ये उजले-स्याह पहलू तो जुड़े ही रहते हैं। नगीन ने बिलासपुर में मीडिया वालों से भी एक सुबह मुलाकात की। हबीबजी के इरादों पर चलने और कुछ नए नाटकों को उठाने की मंशा जाहिर की इस संकोच के साथ कि हबीबजी के गाढ़े-गहरे हस्ताक्षर के सामने नई इबारात गढ़ना चुनौती है। सी.वी. रमन विश्व विद्यालय के कुलाधिपति और कवि-कथाकार संतोष चौबे ने वनमाली सृजन पीठ की पत्रिका 'रंग संवाद' की सौगात पेश करते हुए रसिक समुदाय को बताया कि कलाओं के अन्तरविधायी विमर्श का एक महत्वपूर्ण फलक तैयार हो सका है।

संग्रहालय में शुभा

भोपाल। शुभा मुद्गल आज की उन विरल गायिकाओं में शुमार हैं जिन्होंने पारंपरिक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की हदों में रहकर भी सुरों की आज़ाद उड़ानें भरी हैं। उनका यही सर्वसमावेशी हुनर उनकी लोकप्रियता का पाठ विस्तृत करता रहा है। उन्हें बुजुर्ग, मध्यवर्ती संगीत रसिकों से लेकर नौजवान पीढ़ी के श्रोता भी समान दिलचस्पी से सुनते हैं। लेकिन जैसी कि शुभा ने अपनी संहिता बना रखी है वे मंच पर विधाओं का घालमेल पसंद नहीं करती, यानी जब घरानेदार ख्याल के सुर साध रही हों तो अलबम के फ्यूजन की फरमाइश पर बिल्कुल कान नहीं देती और जब लाइट मूड का म्यूजिक गुणगुना रही हों तो उस अलमस्ती पर गंभीर राग-स्वरों का मुलम्मा उन्हें नागवार गुजरता है। याद आता है कि इस सख्त आग्रह के सामने कई बार आयोजक और प्रथम पंक्ति में बैठे मंत्री-अफसरों को भी हार माननी पड़ी है।

भोपाल के इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय ने विश्व संग्रहालय दिवस के निमित्त 18 नई की शाम शुभा मुद्गल को शुभकामना का संगीत लिए आमंत्रित किया। संग्रहालय में यह शुभा का प्रथम प्रवेश था लेकिन अपने अनुशासन के उसी दायरे में बंधकर वे मंच पर प्रकट हुईं। ग्रीन रूम में एक अधिकारी ने दूसरे से कानाफूसी भी कि- "क्या शुभाजी आखिर में 'अबके सावन' गायेगी?" मगर किसी की हिम्मत खुद शुभा से यह कहने की नहीं हुई। लेकिन पूर्व मुख्यमंत्री सुन्दरलाल पटवा से लेकर पहाड़ी के सुदूर एकांत में बैठे साधारण रसिक को शुभा ने रागेश्री, केदार, देस और भैरवी में बंधी अपने गुरु पं. रामाश्रय झा की बंदिशों का मीठा रसभरा सम्मोहन देने में कोई कसर नहीं छोड़ी।



कथक कार्यशाला : सागर। कालीदास संस्कृत अकादमी म. प्र. परिषद् उज्जैन द्वारा कथक कार्यशाला का समापन समारोह स्वर्ण जयंती साभागार वि.वि. सागर में सम्पन्न हुआ। कथक नृत्यांगना शाम्भवी शुक्ला के निर्देशन में 150 प्रतिभागियों में से 90 प्रशिक्षुओं ने अपनी अभ्यास प्रस्तुतियाँ दीं। प्रो. शाम्भवी ने गुरु वंदना श्लोक से कार्यक्रम का आघाज किया। तीन वर्ष से लेकर पैंतालीस वर्ष तक के प्रशिक्षुओं ने, क्रमशः गणेश वंदना, थाट, उठान, तोड़े, शिव परन, तिहाइयों के बाद तराना "दीम तना देरेना" की रचनाएं प्रस्तुत कीं। पं. करोड़ी लाल भट्ट, श्री शैलेन्द्र राजपूत ने तबले पर एवं रामू विश्वकर्मा साथ निभाया। सुरेश आचार्य ने कार्यक्रम संचालित किया। आभार प्रदर्शन प्रो. दिनेश अत्रि ने किया।

राग-छवियों में बंधा सिने सरगम

भोपाल। संगीत यानी श्रुतियों का संगम, यानी जिसे सुना जा सकता है, आत्मा में बसाया जा सकता है। ये सतरंगी छवियाँ, शब्द, सुर, ताल और लय का तानाबाना पहनकर जब फिजाओं में गूँजती है तो जैसे हमारे अहसास बज उठते हैं। हमारी प्रसन्नता, करुणा, शोक, श्रंगार, हमारा निवेदन, हमारी प्रार्थनाएँ सब कुछ इन सात सुरों की आगोश में सिमट जाते हैं। हमारे इस अन्तर्नाद के मर्म को हमारे संगीत मनीषियों ने बरसों की साधना में समझा और राग रागिनियों की रचना की। इन रागों के साथ हमारा एक रुहानी रिश्ता है क्योंकि भोर की पहली किरण से रात के आखिरी प्रहर तक ये राग हमारे साथ चहल-कदमी करते हैं। हमारी दिनचर्या का हिस्सा बनते हैं। धरती के दूर तक फैले जीवन से लेकर आसमान के अनंत तक उठती-गिरती धड़कनों को अपने सतरंगी दामन में थामने की कूबत है इन राग-रागिनियों में।

हिन्दुस्तानी सिने संगीत का सफर भी इन रागों से अछूता नहीं रहा। रुपहले परदे पर उभरती दास्तानों ने जब अपनी आवाज अवाग तक पहुंचाना शुरू किया तो गीत-संगीत की बाँह थामे बगैर यह सफर दो कदम भी नहीं चल सका। तो शुरू हुआ सिलसिला पार्श्व-संगीत का यानी प्ले बैक म्यूजिक का। उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक एक लहर दौड़ी। कई मकबूल मौसिकीकार एक आँगन में सिमट आए। अपनी-अपनी तालीम, तजुर्बे और जमीन की तासीर को उन्होंने धुनों में उतारा। घरानों और परंपराओं की बेशकीमती धरोहर से सिने-संगीत को नवाजने आला दर्जे के संगीतकार स्टुडियो की चौखट तक चले आए। शब्दों की बनक, रागों की गमक और साजों की खनक ने मिलकर फिल्म संगीत का वो सुनहरा अध्याय

रचा जिसकी चमक आज भी हमारे मन और आत्मा को रौशन किए है। 'सुर-सिंगार' की महफिल इसी सुहाने सुरीले मंजर को याद करने और उसमें शामिल होने की एक विनम्र कोशिश थी। कहते हैं कि शब्दों की नक्काशी किसी नगमों को सुन्दर शकल में ढाल देती है लेकिन एक मौजूं सी धुन उसमें न केवल नया नूर टाकती है बल्कि सुरीली महक लिए मुद्दतों का सफर तय करती है।

ज्योति कलश छलके, पूछो न कैसे मैंने रैन बितायी, लागा चुनरी में दाग, झनक-झनक तोरी बाजे पायलिया..... ये वे नगम हैं जिन्हें शास्त्रीय रागों की छौंक के साथ तैयार किया गया। ये वे गीत थे जिनके शब्द-शिल्पियों ने सिर्फ लफ्जों की बाजीगरी नहीं की बल्कि भावों की अतल गहराइयों में उतरते हुए अभिव्यक्ति की गरिमा का पूरा खयाल रखा। यही कारण है कि सिनेमा के सात्विक संगीत की धड़कनों से वाबस्ता होने आज भी पीढ़ियाँ प्यासी हैं। चित्रपट की चंचल छवियों के साथ जुड़ी सात सुरों की मीठी दस्तक देने भोपाल की सुहासिनी जोशी, कीर्ति सूद सरीखी वरिष्ठ और नयनसी शर्मा, आकृति मेहरा तथा पी. भाविनी जैसी उदीयमान गायिकाएँ रवीन्द्र भवन में पेश आयीं। ऐसी आवाजें जिसमें लरजते-खनकते सुरों का मीठा झरना बहता रहा। याद आए नौशाद, रौशन, ओ.पी. नैयर, एस.डी. बर्मन, मदन मोहन। ये वे मिसाले हैं जिनमें सिने संगीतकारों की कल्पना का अनूठा सृजन भी है। इन्होंने मनोरंजन के नाम पर फूहड़ संगीत नहीं परोसा। संस्कारशीलता का परिचय दिया। एक संभ्रांत संस्कृति की रचना की। ये ऐसी अमिट छापें हैं, सौगातें हैं जिनके रंग बदलते दौर में भी धूसर नहीं पड़े।

निमाड़ी में बनेगी फीचर फिल्म : 'पियुजी थारो देस'

खंडवा। शान्जी फिल्मस, मुम्बई द्वारा निमाड़ की लोक संस्कृति पर आधारित बनाई जा रही पहली फीचर फिल्म 'पियुजी...थारो देस' की उद्घोषणा महान सिने गायक स्वर्गीय किशोरकुमार के यादों के शहर खंडवा के, गौरीकुंज सभागृह में हुई। स्वानंद किरकिरे फिल्म गीतकार (मुम्बई) संस्कृतिकर्मी वसन्त निरगुणे (भोपाल) जगदीश विद्यार्थी निमाड़ी भाषाविद् (सनावद), केन्द्रीय मंत्री देवेन्द्र वर्मा (म.प्र. छ.ग.) अतिथि के रूप में मौजूद थे। पियुजी थारो देस फिल्म के पटकथा-निदेशक आरिफ हमीद गीतकार-अरुण सातले, छायांकन रियाजखान, कार्यकारी निर्माता रवीन्द्र आर. विश्णोई, एम.आर. मिटावलकर, इशरत कुरैशी, आर्ट डायरेक्टर - धनंजय, सहायक अहमदरजा, प्रेमतिरोले, मनोज जानोरिया, हरीश सोनी, विनीत मण्डलोई, राजेश जोगदण्ड के अतिरिक्त फिल्म के संगीतकार संदीप विकास (मुम्बई) भी इस अवसर पर उपस्थित थे।

वसन्त निरगुणे ने कहा कि निमाड़ की संस्कृति समृद्ध है, निमाड़ी भाषा और यहां की सांस्कृतिक परम्परा को विश्व में प्रतिष्ठित करने का भी सिनेमा एक उचित माध्यम है। विशिष्ट अतिथि स्वानन्द किरकिरे ने भावुक होकर किशोर दा की जन्म स्थली

पर उन्हें तथा उनकी बहुमुखी प्रतिभा का जिक्र करते हुए, फिल्म जगत को स्व. किशोर कुमार के अवदान की चर्चा की। 'पियुजी...थारो देस' के बारे में कहा कि फिल्म निर्देशक आरिफ हमीद मेरा दोस्त है और उनकी दोस्ती ही मुझे यहां खींच लाई है, निमाड़ अंचल की सांस्कृतिक गरिमा को केन्द्र में रखकर उनके द्वारा बनाई जा रही हिन्दी



फ़ीचर फिल्म निश्चित ही एक बड़े केनवास पर अपनी संस्कृति को उभारने का प्रयास है। उन्होंने कहा कि श्री आरिफ हमीद इस मामले में मुझसे आगे निकल गए क्योंकि मैं स्वयं भी मालवा लोकसंस्कृति पर आधारित एक फिल्म बनाना चाहता था।

फिल्म के निर्देशक आरिफ ने कहा कि बचपन से ही मैं देखते आ रहा हूँ कि हिन्दी फिल्मों में गांव यू.पी. बिहार, पंजाब का होता है या कभी राजस्थान अथवा गुजरात का। निमाड़ में अनुष्ठानिक पर्व गणगौर, मेरे, तीज-त्यौहार यहां के भिन्नी चित्र और यहाँ की निरगुनिया संत परम्परा, जिनकी छाप आज भी यहाँ के निवासियों में दिखाई देती है। इतनी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर के होते हुए भी, निमाड़ के गांव फिल्मों क्यों नहीं दिखाये जाते? निमाड़ अंचल में अनेक प्रतिभाएँ हैं, जो विविध विधाओं में पारंगत हैं, किन्तु उन्हें उचित मंच नहीं मल्लि पाता। इन सब विचारों को दृष्टिगत रखते हुए मैंने पटकथा की बुनावट की है।

इस अवसर पर वरिष्ठ उद्घोषक श्री निवास अग्रवाल को शॉल, श्रीफल और प्रशस्ति पत्र देते हुए, उन्हें सम्मानित किया गया। मुंबई से आए फिल्म की संगीतकार जोड़ी संदीप-विकास ने स्वानन्द किरकिरे के गीतों की संगीतमय प्रस्तुति दी। कार्यक्रम का संचालन आशीष दवे ने किया। फिल्म का 50 प्रतिशत हिस्सा निमाड़ अंचल में शूट किया जायेगा और शेष भाग अन्य क्षेत्रों में। आर्ट डायरेक्टर धनंजय द्वारा भी निमाड़ क्षेत्र की लोकेशन्स का अध्ययन अवलोकन किया जा चुका है। फिल्म का संगीत मुंबई के स्टूडियो में रिकार्ड किया जा रहा है जिसमें सिने पार्श्व गायिका कविता कृष्णमूर्ति, शास्त्रीय युवा गायक भुवनेश कोमकली के अलावा निमाड़ी लोक गायिकायें आलोचना मांगरोले, सुषमा साध, पूर्णमा चतुर्वेदी आदि स्वर दे रहे हैं।

‘चौपाल’ पर ‘जुगलबंदी’

मुंबई कविता, कहानी, आलोचना और निबंध में एक साथ कलम आजमाने वाले गुना के गुणी लेखक निरंजन श्रोत्रिय ‘आगदार तीली’ लेकर नमूदार हुए हैं। बत्तीस गद्य रचनाओं का यह संकलन मेधा बुक्स ने विश्व पुस्तक मेले के दौरान जारी किया। शीर्षक से जाहिर है कि हमारे समय के जलते सवाल पर यह एक युवा लेखक का जज्बाती और जिम्मेदार चिंतन है जो रोजमर्रा की घटनाओं की जमीन से उठा है। यह हम उन सभी की आवाजों को मुखारित करता है जो अंततः इस दुनिया की बेहतरी और नेकी की हिमायत करते हैं।

बाहरहाल पता चला कि मुंबई में सक्रिय आला सिनेकर्मियों-रंगकर्मियों और बुद्धिजीवियों के समूह ‘चौपाल’ की एक सभा में श्रोत्रिय की अत्यंत चर्चित कविता ‘जुगलबंदी’ का पाठ नाटक और फिल्म अभिनेता राजेन्द्र गुप्ता ने किया। यह भी कि सात पृष्ठों की इस लंबी कविता को आशातीत साधुवाद मिला। कस्बे के एक कवि की आवाज का इस तरह महानगर की चौपाल पर उठना और आन्दोलित करना बेशक कविता की सार्थकता और ताकत का सुप्रमाण है। पाठकों को मालूम होगा कि ‘जुगलबंदी’ ख्यातिलब्ध संतूर वादक पंडित शिवकुमार शर्मा और मरहूम तबला वादक

उस्ताद शफरत अहमद खान की जुगलबंदी से प्रेरित कविता है जो साम्प्रदायिकता की कर्कश कलहों के बीच आपसदारी के आत्मीय सरगम की प्रतिष्ठा करती है। ज्ञानरंजन ने इसे पाकर ‘पहल-७९’ के पन्नों पर प्रकाशित किया था। इस रचना पर निरंजन को बधाई के अनेक खत मल्लि थे। पंडित शिवकुमार शर्मा ने भी इस कविता को अपने अंतरंग में साझा किया है। मध्यप्रदेश में इस कविता का अब तक कोई पाठ प्रयोग नहीं पाया है।

सप्रे संग्रहालय ने किया पत्रकारों का सम्मान

भोपाल। माधवराव सप्रे स्मृति समाचार पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान द्वारा शनिवार को पत्रकारिता में उत्कृष्ट योगदान के लिए राष्ट्रीय व राज्य स्तरीय पुरस्कार समारोहपूर्वक प्रदान किए गए। सामाजिक सरोकार की पत्रकारिता के लिए स्थानीय संपादक गिरीश उपाध्याय को माखनलाल चतुर्वेदी स्मृति पुरस्कार तथा प्रख्यात पत्रकार व प्रथम प्रवक्ता के संपादक रामबहादुर राय को माधवराव सप्रे पुरस्कार से सम्मानित किया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि सांसद कैलाश जोशी थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता वित्त मंत्री राघवजी ने की।

इस गरिमामय आयोजन में संग्रहालय द्वारा घोषित वर्ष 2010 के विभिन्न पुरस्कार प्रदान किए गए। इनमें बलदेवसिंह पुरस्कार - विवेक चौरसिया, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी पुरस्कार - प्रभु पटैरिया, रामेश्वर गुरु पुरस्कार - प्रवीण शर्मा, झाबरमल्ल शर्मा पुरस्कार - जितेन्द्र रिछारिया, केपी नारायण पुरस्कार - गिरीश शर्मा तथा यशवंत अरगरे पुरस्कार - सुनील मिश्र और विनय उपाध्याय को प्रदान किया गया। साथ ही फोटोग्राफी के लिए होमी व्यारावाला सम्मान- फोटो जर्नलिस्ट हेरकृष्ण जैमिनी को तथा आरोग्य सुधा पुरस्कार - वीरेन्द्र राजपूत को दिया गया। प्रशस्ति वाचन संग्रहालय की निदेशक डॉ. मंगला अनुजा ने किया। इसी अवसर पर संस्थान से जुड़े सहयोगियों ने संस्थान संस्थापक-संयोजक विजयदत्त श्रीधर को शॉल-श्रीफल देकर सम्मानित किया। आरंभ में संचालक मंडल के अध्यक्ष अशोक मनोरिया ने स्वागत भाषण दिया। श्री श्रीधर ने संस्थान की 26 वर्षों की विकास यात्रा पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर गृहमंत्री उमाशंकर गुप्ता, सांसद मीनाक्षी नटराजन, पूर्व मंत्री सत्यानारायण शर्मा भी मौजूद थे। आभार प्रदर्शन संचालक मंडल के उपाध्यक्ष नूरुल हसन नूर ने किया।

स्वतंत्र पत्रकार ही बदल सकते हैं व्यवस्था : समारोह में वरिष्ठ पत्रकार और प्रथम प्रवक्ता पत्रिका के संपादक रामबहादुर राय ने कहा कि आज भी देश में अंग्रेजों द्वारा बनाई हुई साम्राज्यवादी व्यवस्था चल रही है। पत्रकारिता के सामने इस व्यवस्था को बदलने की बड़ी चुनौती है, लेकिन बड़े मीडिया संस्थानों और उनके पत्रकारों से इसकी उम्मीद करने के बजाए निजी और स्वतंत्र पत्रकारों की कलम पर ही ज्यादा भरोसा किया जा सकता है।

सांसद कैलाश जोशी ने मुख्य अतिथि के रूप में कहा कि पत्रकार दो प्रकार के हैं। एक तो महाभारत के संजय की तरह, जो खबरों को उसी स्वरूप में देते हैं जो उन्हें दिखाई देता है। दूसरे नारद

की तरह हैं जो जनकल्याण के लिए अपनी ओर से खबरों में कुछ मसाला भी मिला देते हैं। कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए वित्तमंत्री राघवजी ने कहा कि स्वस्थ और निर्भीक पत्रकारिता के लिए मीडिया संस्थानों की अपेक्षा व्यक्ति से ही ज्यादा अपेक्षा की जा सकती है। सांसद मीनाक्षी नटराजन ने कहा कि व्यवस्था के पीलेपन को पठन-पाठन और लेखनी के द्वारा ही मिटाया जा सकता है।

सप्रे संस्थान शुरू करेगा मीडिया पाठ्यक्रम : कार्यक्रम में संस्थान के संस्थापक-संयोजक विजयदत्त श्रीधर ने भावी योजनाओं के बारे में बताते हुए कहा कि अगले वर्ष से संस्थान मीडिया के एक दर्जन पाठ्यक्रम शुरू करेगा। इस वर्ष से इग्नू के साथ मिलकर पर्यावरण एवं विज्ञान संचार संबंधी पाठ्यक्रम शुरू कर रहा है। इसमें परंपरागत कक्षा अध्यापन की बजाय प्रकृति के सान्निध्य में समझ और लेखकीय हुनर विकसित करने पर जोर रहेगा। इसी वर्ष एक व्याख्यानमाला भी आयोजित की जाएगी।

सबसे छोटा वाद्ययंत्र

तिरुवनंतपुरम। केरल के एक व्यक्ति ने सबसे छोटे वाद्ययंत्र का निर्माण कर लिम्बाक बुक ऑफ रिकार्ड्स में अपना नाम दर्ज कराया। इस यंत्र से नादस्वरम जैसी ध्वनियां निकलती हैं। पिछले हफ्ते लिम्बाक प्रमाणपत्र हासिल करने वाले इस वाद्ययंत्र के निर्माता जी जय प्रकाश ने कहा कि मैंने सुशिरी नामक इस लघुतम यंत्र का निर्माण किया। इसे बजाने के तरीके का इजाजत किया और लोगों के सामने इसे बजाकर दिखाया। साढ़े चार सेंटीमीटर लंबा, डेढ़ सेंटीमीटर चौड़ा और एक मिलीमीटर मोटा सुशिरी मुख यंत्र से मिलता जुलता है।

जयप्रकाश ने कहा कि सातों सुर बजाने में सक्षम यह यंत्र रणमुरली, शहनाई या नादस्वरम जैसा है। उन्होंने कहा कि यह मेरी 15 सालों की मेहनत का फल है। दरअसल मैं इतना छोटा उपकरण बनाना नहीं चाहता था। मेरा लक्ष्य दूसरे तरह का यंत्र तैयार करना था। लेकिन उसी दौरान मुझे ऐसा लगा कि आकार और भार घटने के साथ संगीत में स्पष्टता आती है। दवा निर्माता जयप्रकाश (46) ने 2004 में लिम्बाक रिकार्ड के लिए आवेदन किया था। उन्हें पिछले हफ्ते ही प्रमाणपत्र मिला। वे अब गिनीज वर्ल्ड रिकार्ड बनाना चाहते हैं।

गंधर्व की सुरमई याद

भोपाल। राग-रागिनियों के अद्भुत उतार-चढ़ाव। चेहरे की भाव-भंगिमाओं के साथ हाथों का संचालन। विशाल श्रोता समूह की उपस्थिति के बावजूद भारत भवन के अंतरंग में छाया सन्नाटा। बस सभागार में गूंज रहा था तो वह था शास्त्रीय गायक पुष्कर लेले का गायन। मौका था शास्त्रीय संगीत को नई दिशा देने वाले शीर्षस्थ शास्त्रीय गायक पण्डित कुमार गंधर्व के जन्मदिन का।

इस मौके पर उनकी परंपरा को आगे बढ़ा रहे शास्त्रीय गायक पुष्कर लेले ने 'कुमार गंधर्व दर्शन' को प्रस्तुत किया। पुष्कर ने अपनी विशेष प्रस्तुति में पण्डित जी से जुड़े संस्मरणों को प्रजेंटेशन के माध्यम से पेश किया। इसमें उनके बचपन से लेकर शास्त्रीय



संगीत के सफर और जीवन में आए विभिन्न उतार-चढ़ावों से दर्शकों को रूबरू कराया।

'किनारे किनारे, किनारे दरिया' बंदिश से पुष्कर ने अपने गायन की शुरुआत की। राग कल्याण पर आधारित यह बंदिश द्रुत तीन ताल में थी। इस बंदिश के माध्यम से उन्होंने ईश्वर से जीवन की नैया पार लगाने की याचना की। इसके बाद उन्होंने राग खमाज, ताल चाचर में ठुमरी गायन किया जिसे दर्शकों ने खूब सराहा। श्री पुष्कर की टप्पा शैली में दी गई प्रस्तुति 'ओ दिलदारा आ जा रे, थारी सुरत दिखा जा रे' ने तो जैसे दर्शकों को मंत्रमुग्ध ही कर दिया। उनकी यह बंदिश राग खमाज, द्रुत तीन ताल से ओत-प्रोत थी। इन बंदिशों को सुन श्रोता उनके सुरों से सुर एवं ताल से ताल मिलाने लगे। उन्होंने 'तदारे दानी तोम' तराना को राग श्री द्रुत तीन ताल में पेश किया। इस दौरान बीच-बीच में दर्शकों को पण्डित कुमार गंधर्व के गायन की छोटी-छोटी बंदिशें भी सुनने को मिलीं। जिन्हें श्री पुष्कर ने संकलित किया था। देर रात तक चले कार्यक्रम में उन्होंने गीत वर्षा, गीत हेमंत, गीत वसंत आदि के तहत कई राग पेश किए। अंत में उन्होंने तुलसी दर्शन, तुकाराम दर्शन और सूरदास दर्शन पर अनेक रागों में गायन कर लोगों को अभिभूत कर दिया। इस दौरान तबले पर संजय देश पांडे, पखावज ढोलकी पर पद्माकर गूजर और हारमोनियम पर चैतन्य कुण्टे ने संगत दी। कला समीक्षक और उद्घोषक विनय उपाध्याय ने लगभग ढाई घण्टे की इस प्रस्तुति में कुमार गंधर्व के संगीत चिंतन पर प्रभावित टिप्पणियां दीं।

कला व उद्योग के बीच

बेहतर संबंध जरूरी

कोलकाता। कवि-आलोचक व ललित कला अकादमी के अध्यक्ष अशोक वाजपेयी ने कहा है कि कला व उद्योग के बीच बेहतर संबंध जरूरी हैं। उन्होंने कहा कि आज के आयोजन में पहली बार कला व उद्योग के बीच संबंधों के रास्ते में आने वाली समस्याओं पर गंभीरता से विचार हुआ है। इस मौके पर ऐसे बहुत सारे मसले उठाए गए हैं, जिन पर बातें होती रही हैं। लेकिन वे बातें यहां ठोस रूप से सामने आई हैं। अब जरूरत है इन पर ज्यादा एकाग्र ढंग से विचार करने की।

वाजपेयी ने बताया कि छह महीने के बाद इन्हीं मुद्दों पर ललित कला अकादमी की ओर से ऐसे ही कार्यक्रम का आयोजन दिल्ली में किया जाएगा। मालूम हो कि फिक्की की ओर से हाल ही में कला व व्यवसाय पर एक राष्ट्रीय समिति का गठन किया गया है। इसने भारत में कला उद्योग : नीति व सिफारिशें विषयक एक रिपोर्ट तैयार की है। संस्कृति मंत्रालय के सचिव जवाहर सरकार ने इस रिपोर्ट को जारी किया। इस मौके पर फिक्की की कला व व्यवसाय कमेटी की अध्यक्ष राखी सरकार ने स्वागत भाषण दिया। उसके बाद कार्यक्रम में मौजूद विशिष्ट वक्ताओं ने कला व उद्योग के बीच संबंधों के अलावा कला सामग्रियों के बीमाकरण, मूल्यांकन व संरक्षण समेत विभिन्न मुद्दों पर विचार रखे।

युवाओं तक पहुंचे लोककला

भोपाल। निमाड़ी लोककला में पेड़-पौधों, कुएं-बावड़ियों, क्रीट-पतंगों, जानवरों, पानी, औषधीय पौधे सभी को पूजनीय माना गया है। ऐसे वक्त में जब पर्यावरण को नुकसान पहुंच रहा है। इस लोककला को अपनाकर इन चीजों को दुबारा घरों में पूजनीय बनाया जा सकता ताकि इन्हें प्रदूषित होने से बचाया जा सके। भोपाल की रहने वाली पूर्णिमा चतुर्वेदी युवाओं को इस कला से जोड़ने के प्रयास में जुटी हैं। गौहर महल में महिला शिल्पकार मेले में इन चित्रों के साथ वे पेश आईं।



ताकि इनकी तरफ आकर्षित होकर युवा इन्हें सीखने आएँ। हर तीज-त्यौहार के लिए दीवारों और आंगन पर बनाने के लिए अलग अलग चित्र होते हैं जो कि संभवतः 5000 साल पुराने हैं। चतुर्वेदी कहती हैं, पहले खंडवा और खरगोन के घर यह चित्र दीवारों पर बने होते थे, जो कि धन्य-धान से सम्पन्न होने की कामना को दर्शाते थे। अगर इसे लोककला से ऊपर उठकर देखा जाए तो यह पर्यावरण जागरूकता में भी अहम भूमिका निभा सकती हैं। अगर युवा यह कला सीखते हैं तो इस सभी के प्रति लगाव पैदा होगा और इनकी रक्षा हो सकेगी।

स्विस संगीत पर भी 'मैकडॉनल्ड का कब्जा'

भोपाल। भारतीय शास्त्री संगीत पर हावी होता पश्चिमी संगीत दरअसल पूरे पश्चिम का नहीं, बल्कि अमेरिका का संगीत है। अमेरिकी संगीत का साम्राज्यवाद केवल भारत जैसे एशियाई देशों में ही नहीं, बल्कि यूरोपीय देशों में भी है। यूरोपीय देश के संगीतज्ञ अमेरिकी संगीत को 'मैकडॉनल्ड म्यूजिक' कहते हैं।

इस हकीकत से रूबरू कराया स्विटजरलैण्ड की मशहूर संगीतज्ञ जोड़ी डेनियल बूरकिय और लियो फ्रांसीओली ने। भोपाल



में प्रस्तुति देने आए इन दोनों कलाकारों ने विशेष बातचीत में संगीत और संस्कृति के वैश्विक पहलुओं पर बात की। डेनियल बूरकिय कहते हैं कि केवल संगीत ही नहीं भोजन, पोशाक, भाषा-बोली, रहन-सहन यानि पूरी संस्कृति पर अमेरिका ने जड़ें जमा ली हैं।

पूछे जाने पर कि क्या वे भी भारतीय शास्त्रीय संगीतकारों की भांति इस मुद्दे पर चिंतित हैं, इस बुजुर्ग संगीतकार जोड़ी ने साफ इनकार कर दिया। कहते हैं कि हम जानते हैं कि हमारे बाद कोई पारम्परिक संगीत नहीं बजाएगा। हमारे मरने के साथ ही यह संगीत भी दफन हो जाएगा, मगर हमें कोई चिंता नहीं। यह दुनिया का दस्तूर है। कोई चीज शुरू होती है, तो उसका अंत भी होता है।

गौरतलब है कि ये संगीतज्ञ जोड़ी पिछले ३० सालों से साथ-साथ बजा रही है। ये हमेशा खुद के कंपोजिशनस ही बजाते हैं और क्लासिकल और मॉडर्न जैज संगीत में निपुण हैं। लिजी ने बाकायदा संगीत की शिक्षा ली है, मगर डेनियल ने मेडिकल की पढ़ाई के बाद संगीत साधना प्रारंभ की।

भारतीय संगीत के महिला आरक्षण बिल के बारे में हल्की सी जानकारी इन कलाकारों को भी थी। स्विटजरलैण्ड में महिलाओं की स्थिति पर बात हुई तो उन्होंने बताया कि वहाँ संसद में आरक्षण नहीं है, मगर तीस फीसदी महिलाओं का प्रतिनिधित्व है। वहाँ वेतन को लेकर गैरबराबरी है जिसके लिए महिलाएं लड़ रही हैं। भोपाल आने से पहले इन संगीतकारों ने पुणे में एक हिन्दी लघु फिल्म देखी थी। हिन्दी फिल्मों के बारे में उनकी राय अच्छी नहीं है। वे मानते हैं कि बॉलीवुड में अगंभीर फिल्में बनाई जाती हैं। यहाँ नाच-गाने और अजीबो-गरीब अभिनय करने वालों को बोलबाला है। धातु के वाद्य बजाने वाले इन संगीतज्ञों को भारतीय वाद्यों में तबला सबसे अधिक पसंद है। पूछे जाने पर डेनियल ने कहा कि उन्हें तबले की आवाज बहुत अपील करती है। जाकिर हुसैन सहित अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्यात सभी तबला वादकों को वे वीडियो ऑडियो के जरिए सुनने का प्रयास करते हैं। स्विस संगीतज्ञों को यहाँ का खाना बहुत पसंद आया। लियो ने कहा कि यहाँ आने से पहले हम सोच रहे थे कि पता नहीं कैसा खाना मिलेगा मगर यहाँ के खाने का कोई जवाब नहीं। तंदूरी रोटी, नान और तरह-तरह की सब्जियाँ बहुत ही स्वादिष्ट लगीं। -आशा सिंह

सोम ठाकुर को दुष्यंत सम्मान

भोपाल। दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय द्वारा सोम ठाकुर को दुष्यन्त कुमार अलंकरण से सम्मानित किया जायेगा। इसके साथ ली संग्रहालय द्वारा दिया जाने वाला सुदीर्घ साधना सम्मान वरिष्ठ कवि श्री भगवत रावत एवं कथाकार श्रीमती मालती जोशी को दिया जायेगा। आंचलिक रचनाकार सम्मान कोण्डागांव (बस्तर) निवासी श्री हरिहर वैष्णव को दिये जाने की घोषणा की गई।

अभी तक श्री अदम गोंडवी, श्री सूर्यकान्त नागर, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी, डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र, श्री बालकवि बैरागी, श्री लीलाधर मंडलोई, डॉ. श्रीराम परिहार, श्रीमती चित्रा मुद्गल, श्री निदा फाजली एवं डॉ. अशोक चक्रधर को दुष्यंत सम्मान दिया जा चुका है।

द्वारिकेश नेमा के कहानी संग्रह पर चर्चा

भोपाल। अलग-अलग तौर तरीकों से कथा-पात्र जब मंथर गति से बदलाव का महत्वपूर्ण आग्रह करते हैं तो लगता है वे हमारी अपनी दुनिया के हैं। वरिष्ठ कथाकार द्वारिकेश नेमा की कहानियों के किरदार इसी सहजपन वेद साथ तवर्कों को खुलासा करते हैं।

इस आशय के विचारों को लिएकहानी संग्रह 'हीरामन अमूर्त्य सेन और अन्य कहानियाँ' पर एकाग्र आत्मीय चर्चा हुई। जनवादी लेखक संघ भोपाल द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम में कथाकार रमेश उपाध्याय और आलोचक डॉ. अजय तिवारी खासतौर पर शामिल हुए। अध्यक्षता कथाकारद्वय प्रो. आफाक अहमद तथा मंजूर एहतेशाम ने की। लेखक श्याम मुंशी ने इस मौके पर कहानी 'बाहर की तरफ खुलने वाला दरवाजा' का पाठ किया।

कवि-कथाकार संतोष चौबे ने आधार वक्तव्य देते हुए कहा कि नेमा कथा रचना के दौरान विभिन्न सतहों पर काम करते हैं और इस तरह ये सतहें सामने और भीतर का अलग-अलग अर्थ खोलती हैं। ये कहानियां बाजार और वैश्वकरण के खिलाफ सधा हुआ मुहावरा गढ़ती हैं। आलोचक डॉ. तिवारी ने नेमा के पास जितने तरह के अनुभव हैं और उन अनुभवों को परखने के लिए जितने तरह की रचनात्मक उक्तियाँ हैं, कम लेखकों के पास होती हैं। ये जीवन को बेहद मामूली लोगों की नजर से देखते हैं, लेकिन प्रगतिशीलता से दूर। कला की बारीकियों को आजमाते हैं, फिर भी कलावादी नहीं हैं।

कथाकार रमेश उपाध्याय के अनुसार नेमा अनुभववादी नहीं है, यथार्थवादी है और उनका यथार्थवाद वह है जिसे भूमंडलीय यथार्थवाद कहा जाना चाहिए। प्रो. आफाक ने कहा कि नेमा कहानी को कहानी की तरह कहते हैं, अकहानी नहीं बनने देते। समाज का दुख-दर्द बर्यो करती ये कहानियाँ दुनिया को बदलकर एक खुशहाल समाज की कामना करती हैं।



आदिवासी चित्रकार भूरी बाई और दुर्गा सम्मानित

जबलपुर। आदिम जाति एवं अनुसूचित जाति कल्याण मंत्री कुंवर विजय शाल ने जबलपुर में आयोजित भव्य समारोह में डिण्डौरी जिले के सुनपुरी ग्राम की सुश्री दुर्गाबाई व्याम और झाबुआ जिले की सुश्री भूरीबाई पिठौल को संयुक्त रूप से वर्ष 2009 के वीरांगना रानी दुर्गावती राष्ट्रीय सम्मान से अलंकृत किया। श्री शाह ने सम्मानित विभूतियों को एक-एक लाख रुपये सम्मान निधि, प्रशस्ति पट्टिका एवं स्मृति चिन्ह भेंट किया।

रानी दुर्गावती पर श्रम साध्य शोध करने और कई महत्वपूर्ण जानकारियाँ संकलित करने के कार्य में महत्वपूर्ण योगदान के लिए विनायक राव सप्रे और भुवनेश्वर पचौरी को शाल-श्रीफल भेंटकर सम्मानित किया गया। यह सम्मान आदिवासी एवं पारंपरिक सृजनात्मक कलाशिल्प, समाज सेवा, प्रशासन के क्षेत्र में अद्वितीय उपलब्धियों एवं योगदान के लिए आदिवासी महिला को दिया जाता है। जनजातीय चित्र परंपरा की सदियों से प्रवाहमान सृजनशील अभिव्यक्ति को पूरी शुद्धता से आधुनिक समय में बचाये रखने तथा अपनी जातीय स्मृतियों और जमीनी संस्कारों की अविचल अनटूटी सृजनात्मक निष्ठा का सुदूर विस्तार करने के सद्प्रयासों के लिए सुश्री दुर्गाबाई व्याम और सुश्री भूरीबाई पिठौल को संयुक्त रूप से वर्ष 2009 के वीरांगना रानी दुर्गावती राष्ट्रीय सम्मान से विभूषित किया गया। वन्या प्रकाशन के संयोजन में आयोजित इस समारोह में संस्था के प्रबंध संचालक श्रीराम तिवारी ने सम्मान की रूपरेखा पर प्रकाश डाला प्रशस्तियों का पाठ कला आलोचक विनय उपाध्याय ने किया।



प्रसिद्ध भीली चित्रकार भूरी बाई और गोंड चित्रकार दुर्गाबाई व्याम संयुक्त रूप से म.प्र. आदिम जाति कल्याण विभाग का राष्ट्रीय दुर्गाबाई सम्मान अलंकरण प्राप्त करते हुए

मैं बूढ़ा संगीत जवान

नई दिल्ली। वक्त के 'बुढ़ापे' को फन की 'जवानी' से तौलते महान सितारवादक पंडित रविशंकर की नजर में जैसे-जैसे वे बूढ़े हो रहे हैं, वैसे-वैसे उनका फन जवान हो रहा है। भारतीय सितारवादन की गूंज को पश्चिमी दुनिया में पहुंचाने का श्रेय रखने वाले सितार के 'पंडित' रविशंकर ने सात अप्रैल को अपना 90वां जन्मदिन मनाया।

वे अपनी आधिकारिक वेबसाइट पर लिखते हैं : 'मैं उम्र की इस दहलीज पर बैठकर अपनी जवान को गुजरते देख रहा हूँ। मैं पहले की तरह तेज नहीं दौड़ सकता। लेकिन निश्चित रूप से उम्र के साथ मेरा संगीत और जवान हो रहा है, तो क्या मुझे अपनी जवानी गुजरने का मलाल करना चाहिए या फिर भगवान का शुक्रिया अदा करके संगीत की दुनिया में और गहरे डूब जाना चाहिए।' वेबसाइट के मुताबिक, उनके 90वें जन्मदिन के मौके पर शिकागो कल्चरल सेंटर में इस महान कलाकार को समर्पित फिल्म और संगीत संध्या का आयोजन किया गया। उनके जन्मदिन के जश्न के तहत प्रेस्टन ब्रैडले हॉल में भारत की तीन उभरती हुई संगीत प्रतिभाएं सितारवादक पुरबायन चटर्जी, बांसुरी वादक राकेश चौरसिया और तबला वादक योगेश शमसी ने कंसर्ट किया।



संगीत ही नहीं, हर चीज़ में मिलावट

मुंबई। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में औद्योगिक घरानों की नविश करने में कोई दिलचस्पी न दिखाने पर बात करते हुए प्रसिद्ध बांसुरी वादक पंडित हरिप्रसाद चौरसिया ने कहा कि आज भले ही शास्त्रीय संगीत फायदे का सौदा न लगता हो, लेकिन आने वाले समय में यह संगीत देश-विदेश में लोकप्रिय होगा और इसमें निवेश करने वालों की भी कमी नहीं रह जाएगी।

पंडित हरिप्रसाद चौरसिया ने कहा कि औद्योगिक घराने क्रिकेट जैसे खेलों और अन्य क्षेत्रों में खुलकर नविश करते हैं, लेकिन शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में निवेश करने से कतराते हैं। उन्होंने कहा कि ऐसा लगता है कि औद्योगिक घरानों के मुखिया शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में निवेश करने के इच्छुक हैं, लेकिन पूर्वग्रह के चलते उनके सलाहकार उनको इस क्षेत्र निवेश करने से रोकते हैं, जिस कारण वे खुलकर सामने नहीं आते हैं। उन्होंने कहा कि जिस तरह से शास्त्रीय संगीत देश-विदेश में लोकप्रिय हो रहा है, उससे एक दिन ऐसा भी आएगा, जब औद्योगिक घराने इस क्षेत्र में खुलकर निवेश करेंगे। एक सवाल के जवाब में चौरसिया ने कहा कि वर्तमान दौर में केवल संगीत ही नहीं बल्कि हर क्षेत्र में मिलावट है। उन्होंने कहा कि संगीत के जानकारों की बजाय अच्छा श्रोता सबसे बड़ा आलोचक होता है और उसी के कारण शास्त्रीय संगीत आगे बढ़ रहा है।

चौरसिया ने कहा कि पश्चिम के प्रभाव के चलते आजकल के बच्चे आनन-फानन में धन कमाना चाहते हैं और कुछ दिन शास्त्रीय संगीत सीख कर दौलत और शोहरत के पीछे भागने लगते हैं। उन्होंने कहा कि यह युग भी आना जरूरी है क्योंकि अगर लोगों के सामने किसी चीज का स्याह पक्ष नहीं आएगा तो उनमें सफेद को पहचानने की कुव्वत भी नहीं आ पाएगी। उन्होंने कहा कि आज के युवाओं के अंदर की ऊर्जा को मशीनों ने छीन लिया है। हालांकि, उन्होंने स्वीकार किया कि आजकल के बच्चे हमारे दौर के बच्चों की तुलना में अधिक प्रतिभावान हैं और वे किसी भी चीज को जल्दी सीखने की क्षमता रखते हैं।

उन्होंने कहा कि यह कहना सरासर गलत होगा कि शास्त्रीय संगीत छोटे शहरों में बचा हुआ है, क्योंकि अधिकतर बड़े संगीतकार मेट्रो शहरों में रहते हैं। शास्त्रीय संगीत के तमाम बड़े कलाकार बड़े शहरों और विदेशों में बस गए हैं क्योंकि वहां रहकर धन कमाया जा सकता है।

'कला समय' ने संजोई गुलवर्धन की सृजन-गाथा

भोपाल। सांस्कृतिक सरोकारों की सुप्रतिष्ठित पत्रिका 'कला समय' ने अपना नवीन अंक विश्वख्याति प्राप्त कोरियोग्राफर तथा बैले कलाकार सुश्री गुलवर्धन के जीवन-सृजन पर केन्द्रित किया है। संस्कृति तथा जनसंपर्क मंत्री श्री लक्ष्मीकांत शर्मा ने भारत भवन में आयोजित एक गरिमामय समारोह में इस विशेषांक का लोकार्पण सुश्री गुलवर्धन की मौजूदगी में किया। 'कला समय' के संपादक श्री विनय उपाध्याय ने इस मौके पर बताया कि हाल ही पद्मश्री से अलंकृत मध्यप्रदेश की गौरव गुलदी के कलात्मक पुरुषार्थ, संघर्ष और उपलब्धियों की सचित्र बानगियों से सजे इस दस्तावेजी अंक में लेखक-आलोचकों राजेश जोशी, रामप्रकाश त्रिपाठी, रमाकांत, आलोक चटर्जी आदि ने विस्तार से इस 'स्वयंसिद्धा' के सोपानों को परखा है। गुलवर्धन का डॉ. कमल कुमार द्वारा लिया एक दुर्लभ साक्षात्कार भी इस अंक में संग्रहित है जिसमें एक स्त्री के सृजनात्मक सपनों, चुनौतियों और अदम्य जिजीविषा का उद्घाटन हुआ है। श्रेष्ठ संपादन के लिए पुरस्कृत हो चुकी 'कला समय' के पूर्व में प्रकाशित हबीब तनवीर, ब.व. कारंत, विष्णु चिंचालकर जैसी मूर्धन्य विभूतियों के साथ ही रंगमंच, नृत्य, संगीत तथा लोक कलाओं पर एकाग्र विशेषांक भी चर्चित रहे हैं।



‘रंग संवाद’ की सामग्री, आपका सम्पादकीय तथा साज-सज्जा देखकर मन प्रसन्न हो गया। आपने पत्रिका को हर दृष्टि से सुन्दर तथा पठनीय एवं विचार प्रधान बनाने की सफल चेष्टा की है। आपने सम्पादकीय में कलाओं के अन्तर्सम्बन्धों की चर्चा की है, वह भारतीय कला-साहित्य की अपनी विशेषता है। हमारी कलाएँ एक-दूसरे के सम्मिश्रण तथा योग में बनी हैं। यह भारत की वैविध्यपूर्ण कलात्मक आमूर्त दृष्टि का सुखद परिणाम है। हम जीवन में भी अकेला नहा। सबको साथ लेकर चलना चाहते हैं। प्रकृति भी असंख्य तत्वों का आकलन है, तब कलाएँ इस संबंध में कैसे अधूरी रह सकती हैं। ‘रंग संवाद’ सभी आधारभूत चिन्तन को लेकर चला है, तो स्वाभाविक है वे लोग जो प्रकृति के बहुरंगी चित्र के साथ जीना चाहते हैं, जो देश को विविधता में अनेकता की दृष्टि के रूप में देखते हैं, वे सभी रंग संवाद का स्वागत करेंगे। कलाओं का यह रगात्मक वैशिष्ट्य हमें भी ऐसे ही रगात्मक सम्बन्ध के लिए प्रेरित तथा प्रतिबद्ध करता है। इस रूप में ‘रंग संवाद’ का स्वागत है। -कमल किशोर गोयनका, दिल्ली



•••

कला, साहित्य और संस्कृति पर केंद्रित अंक देख-पढ़कर संतोष हुआ, प्रसन्नता भी। कला और साहित्य को जोड़ने का आपका यह प्रयास स्तुत्य है। साहित्य और कलाओं के अंतर्संबंधों को नकारा नहीं जा सकता। दोनों में संवेदनाएँ एक सी हैं, केवल अभिव्यक्ति के माध्यम बदले हैं। लेकिन दोनों ही विधाओं में एक-दूसरे का स्पर्श, एक-दूसरे की उपस्थिति को अनुभव किया जा सकता है। नई पीढ़ी के सर्जकों के प्रति वनमाली सृजन पीठ का दृष्टिकोण उदार है, जानकर अच्छा लगा। यदि उदयीमान, प्रतिभाशाली युवा पीढ़ी को बुजुर्ग पीढ़ी प्रोत्साहित नहीं करेगी तो कौन करेगा। रंग कर्म के प्रति रंग संवाद का समर्पण तो स्वाभाविक है। अंक साफ-सुथरा, आकर्षक

और त्रुटि हीन है। विनय उपाध्याय इस काम के लिए सर्वाधिक योग्य व्यक्ति हैं। निश्चित ही वे रंग संवाद को नई ऊँचाइयाँ देंगे। उनके पास दृष्टि है, कला और साहित्य की समझ है तथा कला-समीक्षा की प्रांजल/उत्कृष्ट भाषा भी। रंग संवाद भी अपनी छटा दूर-दूर तक बिखरेगा। -सूर्यकांत नागर, इंदौर

•••

रंगसंवाद का प्रवेशांक मिला। प्रथम स्पर्श में ही यह प्रकाशन आकर्षक है। श्री संतोष चौबे ने अपने अग्रलेख में जो संकल्प व्यक्त किए हैं उनकी सफलता असंदिग्ध है। जो सामग्री देखने में आई वह मूलतः ललित कलाओं और खासतौर से रंगमंच पर ही केंद्रित है।

‘रंग संवाद’ में अच्छी साहित्यिक कृतियों की ‘आलोचना’ भी हो। हिन्दी आलोचना की स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं है। रंग संवाद में नई किताबों (कहानी, उपन्यास, निबंध) आदि पर परिचयात्मक आलोचनापरक सामग्री भी दी जाए तो बहुत लाभदायक होगा। हिन्दी रंगमंच पर केंद्रित है। विनय उपाध्याय की चिंताएँ वाजिब हैं। मैं थोड़ा हस्तक्षेप करते हुए निवेदन करना चाहूँगा कि हिन्दी रंगमंच अपने अतीत में भी बहुत समृद्ध नहीं था। हबीबजी और कारंतजी ने बीच के समय एक वातावरण बनाया था लेकिन नए नाटककार फिर भी सामने नहीं आ पाए। यह बात मैं खासतौर से म.प्र. के परिप्रेक्ष्य में कह रहा हूँ। कुछ छोटे-छोटे शौकिया रंग समूह जरूर दिखाई देते हैं- जबलपुर, हरदा, खंडवा इत्यादि में हैं जो वर्ष में बमुश्किल एक दो प्रस्तुतियाँ दे देते हैं अन्यथा सारा इलाका इन दिनों हिन्दी रंगमंच से विहीन है। इसका एक कारण तो (जैसा कि, आपने अपने लेख के आरंभ में व्यक्त किया) विजुअल मीडिया भी है लेकिन इसके दीगर कारण भी हैं जैसे हिन्दी में रंगमंच के अनुशासन के प्रति एक खास तरह का उपेक्षा भाव। हिन्दी के सिमटते पाठक वर्ग के बावजूद हिन्दी का लेखक अभी भी उस आत्ममुग्धता से बाहर नहीं निकलना चाहता कि वह जो लिख रहा है उससे एक झटके में समाज बदल जाएगा, सरकारें



‘रंग संवाद’ का भारत भवन भोपाल में लोकार्पण करते हुए मशहूर कोरियोग्राफर गुलवर्धन तथा रंगकर्मी नगीन तनवीर, साथ में वनमाली सृजन पीठ के अध्यक्ष और सुप्रसिद्ध कवि-कथाकार संतोष चौबे

हिल जाएंगी इत्यादि। वस्तुतः आपके आलेख में कई ऐसे प्रश्न हैं जो विचारणीय हैं और बुद्धिवादी समाज के 'सोच' को 'रंगमंच' के प्रति आकर्षित करने की दिशाएं प्रशस्त करता है। बधाई और साधुवाद। -**कैलाश मंडलेकर**, खंडवा

•••

रंग संवाद की प्रति मिली। साफ-सुथरी, सुरुचिपूर्ण। भोपाल जैसी जगहों और आप जैसे सुरुचिप्रेमी संपादकों से इससे कम क्या अपेक्षा होगी। विनय उपाध्याय की समझ इसमें चार-चाँद लगा देगी। -**विजय बहादुर सिंह**, कोलकाता

•••

आशा है अपनी परंपरा के अनुरूप पत्रिका हम पाठकों के रंग बोध को समृद्ध करेगी। रंग कर्म के विभिन्न पक्षों पर आलेख पढ़ने को मिलेंगे। -**रतन चौहान**, रतलाम

•••

सांस्कृतिक गतिविधियों से संबंधित किसी पत्रिका की आवश्यकता पिछले कुछ समय से महसूस की जा रही थी, जिसकी पूर्ति यह पत्रिका कर सकती है। कला की विभिन्न विधाओं, समीक्षा और आयोजनों की रपट जिस सजीवता से इसमें समाहित है वह प्रशंसनीय है। कला एवं साहित्य के क्षेत्र में इस पहल के लिए शुभकामनाएँ। -**सच्चिदानंद जोशी**, रायपुर

'रंग संवाद' अपने ढंग की अकेली पत्रिका है। प्रवेशांक आश्वस्त ही नहीं करता बल्कि इसके स्वर्णिम भविष्य को भी रेखांकित करता है। -**कैलाश पचौरी**, बैरसिया

•••

निश्चित ही सांस्कृतिक पहलुओं पर इस तरह के संवाद की नितांत आवश्यकता है। देश भर की रंग गतिविधियों की संक्षिप्त रिपोर्ट, अलग-अलग रंगकर्मियों के विचार इस पत्रिका में शामिल होंगे ऐसी आशा है। हमारा ध्यान केवल केन्द्रीय या मुख्य धारा की हरकतों पर न होकर प्रदेश के जिलों-कस्बों और गांव में हो रही गतिविधियों और प्रयासों को रेखांकित करने में भी होना चाहिए। कलाकारों की कठिनाईयों पर भी विचार साझा करने की जरूरत है।

अच्छा लगा कि यह अंक "रंग आधार नाट्य समारोह" के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। क्योंकि बतौर अभिनेता मैं भी इस समारोह का हिस्सा रहा हूँ। रंग आधार की पहली प्रस्तुति नाटक 'अज्ञात घर' में मैंने अभिनय किया है। मैं सीधी में 'रंगदूत' नामक टोली का संचालन कर रहा हूँ। विश्वास है कि यह संवाद निरंतर जारी रहेगा। -**प्रसन्न सोनी**, सीधी

•••

ललित नारायण उपाध्याय (खंडवा), जमनाशंकर ठाकुर, रमाकांत दुबे, जगदीश किंजल्क, रुपाली जैन, सतीश मेहता (भोपाल), सुदीप सोहनी (मुंबई), सुमंत नातू (गोंदिया), श्रीराम परिहार (खंडवा), ब्रज श्रीवास्तव (विदिशा) आदि की प्रतिक्रियाएं भी मिलीं।



वनमाली
सृजन पीठ

श्री जगन्नाथ प्रसाद चौबे
'वनमाली' स्मृति ग्रंथ के
प्रकाशन के लिए

रचनाएँ आमंत्रित

श्री जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' अविभाजित मध्यप्रदेश के प्रमुख शिक्षाविद् एवं कथाकार रहे हैं और उन्होंने प्रमुखता से बिलासपुर, खंडवा तथा भोपाल में रहते हुए रचनाकर्म किया। उनकी स्मृति में भोपाल में वनमाली सृजन पीठ की स्थापना की गई है।

वनमाली सृजन पीठ की आगामी योजनाओं में से एक है- श्री जगन्नाथ प्रसाद चौबे वनमाली के रचनाकर्म पर केन्द्रित स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन। उनके सभी छात्रों, समकालीन शिक्षकों, मित्रों एवं परिचितों से अनुरोध है कि वे उनके पास उपलब्ध कोई भी जानकारी, संस्मरण, चित्र, आलोचनात्मक टिप्पणी, उनकी उपलब्ध रचना 31 अगस्त 2010 तक वनमाली सृजन पीठ के कार्यालय भेजने का कष्ट करें।

सभी सहभागियों की सृजन पीठ आभारी रहेगी।

संपर्क का पता

वनमाली सृजन पीठ

ई-7/22, अरेरा कॉलोनी,

भोपाल-462016

संतोष चौबे

अध्यक्ष

09826256733

विनय उपाध्याय

संयोजक

09826392428